रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च

* १९८९ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)-१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

८४वीं तालिका

(२२ अक्तूबर १९८८ तक)

२९७५. श्री आर. के. वोरा, जबलपुर ।
२९७६. श्री कैलाशचन्द्र माहेश्वरी, खुर्जा (उत्तर प्रदेश) ।
२९७७. श्री राधेश्याम गुप्ता, मस्तूरी (बिलासपुर) ।
२९७८. श्री जी. एन. शुक्ला, बैकुण्ठ (रायपुर) ।
२९७९. श्री खेमराज जसराज एण्ड ब्रदर्स, रायपुर ।
२९८०. श्री एन. के. शुक्ल, इन्दौर ।
२९८१. श्री पुरुषोत्तम लाल शर्मा, नारायणपुर (बस्तर) ।
२९८२. श्री शशीकांत मिश्र, नारायणपुर (बस्तर) ।
२९८३. निष्काम कर्मयोग सेवा आश्रम, रेनार्मा (सागली)
२९८४. प्रो. पी. सी. मित्र, शंकर नगर, रायपुर ।
२९८५. श्री नन्दराम राजपूत, बेलखुरो, बिलासपुर ।
२९८६. श्री आर. पी. सिंग, तराना, उज्जैन ।
२९८७. श्री राजेन्द्र कुमार रेगे, इन्दौर ।
२९८८. श्री भानू सावन, ११२८ सुदामा नगर, इन्दौर ।
२९८९. स्वामी गोविन्दानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता ।
२९९०. श्री ओम प्रकाश केवलिया, जैसलमेर (राजस्थान)
२९९१. श्री आर. सी. दुबल, लिमडी (गुजरात) ।
२९९२. श्रीमती सुनीता नत्थानी, सदर बाजार, रायपुर ।
२९९३. श्रीमती कल्पना नत्थानी , सदर बाजार, रायपुर ।
२९९४. श्री ए. के. बनर्जी, दुर्ग ।
२९९५. श्री लक्ष्मण गिरि गोस्वामी, शहपुरा, मण्डला ।
२९९६. श्री पन्नालाल पहारिया, ७५ मल्हारगंज, इन्दौर ।
२९९७. श्री शिवराज सिंह, बवाना, दिल्ली-३९ ।
२९९८. कु. मनोशा भगत, रोहतक (हरियाणा) ।
२९९९. डॉ. प्रभुनाथ सिंह, राघवपुरी, अम्बिकापुर ।
३०००. श्री नरेश चन्द्र अग्रवाल, पड़ाव वार्ड, मण्डला ।
३००१. श्री के. एन. शुक्ला, नगरी-सिहावा (रायपुर) ।
३००२. डा. सुनील एस. खण्डेलवाल, भण्डारा (महा.) ।
३००३. दीवान कृष्ण कुमार, नरवाना, हरियाणा ।

३००४. श्री ललित किशोर, महेन्द्र, पटना ।

३००५. श्री प्रवीण कुमार साहू, मेघा, कुरुद (रायपुर) ।

३००६. श्री राजकुमार हरदेल, बालोद (दुर्ग) ।

३००७. श्री प्रकाश पी. कडू, माहोली-जहाँगीर (अमरावती) ।

३००८. प्राचार्या, शासकीय नवीन कन्या महाविद्यालय, नयापारा, रायपुर ।

३००९. श्री नन्दलाल वाधवानी, भोपाल ।

३०१०. श्री दीपक कुमार पंजाबी, सनावद (खण्डवा) ।

३०११. डा. कमलेश बी. शाह, अहमदाबाद ।

O

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

१.	प्रकाशन का स्थान	—रायपुर
२.	प्रकाशन की नियतकालिकता	—त्रैमासिक
३-५.	मुद्रक, प्रकाशक एवं संपादक	—स्वामी आत्मानन्द
	राष्ट्रीयता	—भारतीय
	पता	—रामकृष्ण मिशन, रायपुर
	स्वत्वाधिकारी	—रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द ।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

(हस्ताक्षर) **स्वामी आत्मानन्द**

अनुक्रमणिका

○

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२ ००९

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २७] जनवरी-फरवरी-मार्च ★ १९८९ ★ [अंक २

सन्मित्र के लक्षण

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ।।

—सन्तों ने कहा है कि अच्छा मित्र वह है, जो अपने मित्र का पापकर्म से बचाता है, अच्छे कामों में लगाता है, उसकी गुप्त बात को छिपाता है, उसके गुणों को प्रकट करता है, विपत्ति पड़ने पर उसका साथ नहीं छोड़ता और गाढ़े समय में अपेक्षित वस्तु देकर उसकी सहायता करता है ।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ७२

अग्नि-मंत्र

(स्वामी तुरीयानन्द को लिखित)

६ प्लेस द एतात युनि,
पेरिस,

भाई हरि,

मैं अब फ्रान्स में समुद्र के किनारे रह रहा हूँ। धर्मेतिहास सम्मेलन समाप्त हो चुका है। सम्मेलन कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं था। लगभग बीस पण्डित मिलकर शालग्राम की उत्पत्ति, जिहोवा की उत्पत्ति आदि विषयों पर व्यर्थ का बकवाद करते रहे। मैंने भी अवसर के अनुकूल कुछ कह दिया।

मेरे शरीर एवं मन भग्न हो चुके हैं। विश्राम की आवश्यकता है। फिर भी ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिस पर निर्भर रहा जा सके, और इधर जब तक मैं जीवित रहूँगा, मुझ पर भरोसा रखकर सब कोई नितान्त स्वार्थी बन जाएँगे।

...लोगों के साथ व्यवहार करने में दिन-रात मानसिक कष्ट का अनुभव होता है। इसलिए...लिख-पढ़कर मैं पृथक् हो चुका हूँ। अब मैं यह लिखे दे रहा हूँ कि किसी का भी एकाधिकार न रहेगा। सभी कार्य बहुमत से सम्पन्न होंगे...जितने शीघ्र इस प्रकार के न्यास-संलेख (trust deed) का सम्पादन हो, उतना ही अच्छा है, तभी मुझे कहीं शान्ति मिलेगी।...अस्तु, **स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं** मुरारी काष्ठस्वरूप हो गये।* काठ

---

* एका भार्या प्रकृतिमुखरा चंचला च द्वितीया
पुत्रोऽप्येको भुवनविजयी मन्मथो दुर्निवारः।

बनने के डर से मैं भाग रहा हूँ, इसमें दोष ही क्या है ?

इस बात को यहीं तक रहने दो। अब तुम लोगों की जैसी इच्छा हो करो। अपना कार्य मैं समाप्त कर चुका हूँ, बस ! गुरु महाराज का मैं ऋणी था—प्राणों की बाजी लगाकर मैंने उस ऋण को चुकाया है। यह बात तुम्हें कहाँ तक बतलाऊँ ? समस्त कर्तृत्व का दस्तावेज बनाकर मुझे भेजा गया है। कर्तृत्व को छोड़कर बाकी सभी स्थलों पर मैंने हस्ताक्षर कर दिया है ! . . .

तुमको एवं गंगाधर को और काली, शशि तथा नवीन बालकों को पृथक् रखकर राखाल एवं बाबूराम को कर्तृत्व सौंप रहा हूँ। गुरुदेव उन्हें ही श्रेष्ठ मानते थे। यह उनका ही कार्य है। . . . मैंने हस्ताक्षर कर दिये हैं। अब जो कुछ मैं करूँगा, वह मेरा निजी कार्य होगा। . . .

अब मैं अपना कार्य करने के लिए जा रहा हूँ। गुरु महाराज के ऋण को अपने प्राणों की बाजी लगाकर मैंने चुकाया है। अब मेरे लिए उनका कोई कर्ज चुकाना शेष नहीं है और न उनका ही मुझ पर कोई दावा है। . . .

तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह गुरु महाराज का कार्य है, उसे करते रहो। मुझे जो कुछ करने का था, मैं

शेषःशय्या वसतिरुदधौ वाहनं पन्नगारिः
स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं दारुभूतो मुरारिः॥

—एक पत्नी तो स्वभाव से मुखर है और दूसरी बडी चंचल है। पुत्र भी भुवनविजयी तो है, पर दुर्निवार रूप से मन को मथ देनेवाला है। शय्या भी है तो नाग की और वह भी समुद्र में, और वाहन है गरुड (जो नाग का दुश्मन है)। अपने घर के लोगों के चरित्र का स्मरण कर-करके चिन्ता के मारे मुरारी काठ के हो गये हैं !

कर चुका हूँ, बस । मुझे उस बारे में और कुछ न लिखना और न बतलाना, उसमें मेरा कोई भी अभिमत नहीं है ।...अब सब कुछ भिन्न प्रकार से होगा ।...इति ।

नरेन्द्र

पुनश्च—सबसे मेरा प्यार कहना । इति ।

○

गीतातत्त्व-चिन्तन

भाग १

(मूल, अन्वय एवं हिन्दी अर्थ समेत)

स्वामी आत्मानन्द प्रणीत

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वामी आत्मानन्द के सुप्रसिद्ध एवं बहुप्रशंसित **प्रथम** ४४ गीता-प्रवचनों को, जो 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे, पाठकों की निरन्तर माँग पर संकलित कर प्रकाशित किया गया है । इस संकलन में गीता की भूमिका, गीता-गायन-तिथि आदि पर ८, प्रथम अध्याय पर ७ और द्वितीय अध्याय पर २९ प्रवचन हैं ।

पृष्ठ संख्या—५१० + चौबीस

मूल्य—पेपर बैक संस्करण-३०)।।ग्रन्थालय डीलक्स संस्करण-४५)

जनसाधारण की सुविधा के लिए ग्रन्थ के इस प्रथम भाग को तीन खण्डों में भी प्रकाशित किया गया है । प्रत्येक खण्ड का मूल्य १५) है ।

डाकखर्च अलग से लगेगा:—

पेपर बैक संस्करण पर ४), डीलक्स सं. पर ४।।), हर खण्ड पर ३।।)

डाकखर्च समेत ग्रन्थ का पूरा मूल्य प्राप्त होने पर प्रति रजिस्टर्ड डाक द्वारा भेज दी जाएगी ।

वी.पी.पी. से मँगवानेवाले कृपया १०) मनीआर्डर द्वारा प्रेषित करें ।

लिखें : रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर-४९२००१

(ग्रन्थ की अब कुछ प्रतियाँ ही शेष हैं ।)

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

बाईसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के वरिष्ठ महा-उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्सग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उदबोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

त्याग—सही अर्थ और आचरण

यहाँ ठाकुर भक्तों को त्याग का उपदेश दे रहे हैं। बतला रहे हैं कि संन्यासी और गृहस्थ के लिए त्याग का आदर्श अलग अलग होता है। वे साधु के लिए कहते हैं, "मन से सर्वस्व का त्याग हुए बिना ईश्वर नहीं मिलेंगे। साधु संचय नहीं कर सकता। 'संचय कबहू ना करै पंछी औ' दरवेश'।" वे स्वयं अपनी अवस्था का उल्लेख करते हुए कहते हैं, "हाथ धोने के लिए मिट्टी नहीं ले जा सकता, बटुए में पान नहीं ला सकता।" अर्थात् सम्पूर्ण त्याग का भाव। इसके बाद ही महिमाचरण आदि भक्तों को लक्ष्य करके कहते हैं, "तुम लोग गृहस्थ हो. यह भी करो, वह भी करो।" इस तरह की बातें उन्होंने अन्यत्र भी कही हैं—एक हाथ से ईश्वर को पकड़े रहो और दूसरे से संसार का काम-काज करो, फिर गिरने का डर नहीं रहेगा।

उपदेश का यह पार्थक्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। क्या संसारियों के लिए यह ठाकुर का मात्र सान्त्वना-वाक्य है ? क्या संसार में रहकर भगवान् को पाया जा सकता है ? जिसका मन भगवान् में लगा हुआ है, उसके लिए सासारिक कर्म कर पाना क्या सम्भव हो सकता है ? महिमाचरण यही सन्देह प्रकट करते हैं। पूछते हैं, "यह और वह, क्या दोनों रह सकते हैं ?" पर यह सान्त्वना-वाक्य नहीं है। ठाकुर ने कभी किसी को झूठी सान्त्वना नहीं दी, जो सच है वही कहा। तो फिर यहाँ पर उनका ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है ? पहले तो परिहास करते हुए ठाकुर कहते हैं, " 'रुपया मिट्टी, मिट्टी रुपया' सोचते हुए जब रुपया गंगा में फेंक दिया, तब कुछ डर लगा। माँ लक्ष्मी यदि राशन-कपड़ा बन्द कर दे, तब क्या होगा ? तब हाजरा की तरह थोड़ी चतुराई की। कहा—माँ, तुम हृदय में रहो।" इस हास्य-विनोद के माध्यम से वे यही समझाना चाहते हैं कि एकदम से सर्वत्याग करना बहुत कठिन है। जब तक देह-बोध है, तब तक समग्र त्याग सम्भव नहीं है।

इस प्रसंग में ठाकुर की एक अन्यतम त्यागी सन्तान स्वामी सारदानन्दजी महाराज की एक विनोद-पूर्ण उक्ति है। एक बार उद्‌बोधन में एक भक्त ने उनसे कहा कि वह संसार-त्याग करना चाहता है। महाराज उससे बोले, "बच्चू, मैं तो अभी तक संसार का त्याग नहीं कर सका, यह देखो न, कितना लपेट रखा है।"यह कहकर उन्होंने अपने शरीर पर पहने हुए गरम कुर्ता, चादर आदि की ओर इशारा किया। ठण्ड के दिन थे और उनको वात की शिकायत थी, इसलिए उन्होंने अपने शरीर

पर कुछ अधिक ही गरम कपड़े पहन रखे थे । लेकिन वास्तव में उनका कहने का अभिप्राय यह था कि जब तक देह है, देह में मन है और देह का कार्य चल रहा है, तब तक सम्पूर्ण त्याग करना सम्भव नहीं है । इसलिए ठाकुर भी कह रहे हैं, "तुम लोगों के लिए मानसी त्याग है, अनासक्त होकर संसार का काम-काज करो ।" यह सान्त्वना-वाक्य नहीं है, अपितु साधना के लिए ही संकेत है । इस बात को स्पष्ट करते हुए ठाकुर कहते हैं, "मन से काम-कांचन का त्याग होने पर वह ईश्वर की ओर जाता है ।. . . जो बद्ध है, वही मुक्त हो सकता है । ईश्वर से विमुख होने से ही जीव बद्ध होता है । तराजू का नीचे का काँटा ऊपर के काँटे से कब अलग हटता है ?— जब तराजू के एक पलड़े पर काम-कांचन का भार पड़ता है ।" तात्पर्य यह है कि संसार को छोड़कर कहाँ जाओगे ? जब तक देह है, तब तक संसार भी है । क्या गृहस्थ, क्या संन्यासी, सभी को इस देह का पालन करना होता है । यदि कोई साधना करना चाहे तो उसे जैसे इस देह की आवश्यकता है, वैसे ही जो सिद्ध हैं उन्हें भी लोक-कल्याण के लिए देह का प्रयोजन है ।

अत: देह की उपेक्षा करने से नहीं चलेगा । और जब इस देह की उपेक्षा नहीं की जा सकती, तब संसार तो इसी के भीतर है । अत: पूर्ण त्याग किसी के लिए भी सम्भव नहीं है । संन्यासी को भी देह-रक्षा के लिए भिक्षा माँगनी पड़ती है, रहने योग्य एक आश्रय खोजना पड़ता है ।

कई लोग संसार से कुछ विरक्ति का अनुभव होने पर या ईश्वर के प्रति थोड़ा आकर्षण होते ही संसार को छोड़ देने का विचार करने लगते हैं । लेकिन कहाँ जाओगे ?

जहाँ भी जाओगे, वहीं संसार है । स्वामीजी ने अपनी एक कविता में कहा है—

जितनी दूर—दूर चाहे जितना जाओ चढ़कर रथ पर
तीव्र बुद्धि के, वहाँ—कहाँ तक फैला यही जलधि दुस्तर
संसृति का, सुख-दुःख-तरंगावर्त घूर्ण्य, कम्पित, चंचल ।

अतः बाह्य संसार का त्याग ही कोई रास्ता नहीं है, संसार के प्रति आसक्ति का त्याग ही रास्ता है । इसलिए कह रहे हैं कि संसार में रहते हुए भी तराजू के काँटे की भाँति सदा ईश्वर से संयोग रखना होगा । मन यदि समग्र रूप से ईश्वर की ओर लगा रहेगा तो आसक्ति स्थान नहीं पाएगी । ठाकुर एक प्रचलित कहावत का उल्लेख करते हुए कहते हैं—बच्चा जमीन पर गिरते ही रोता क्यों है ? इसलिए कि माँ के गर्भ में ईश्वर से संयुक्त था, पर जमीन पर गिरते ही वह उस योग से विलग हो गया—"गर्भ में रहते योग में था, धरती पर गिरते ही खा ली मिट्टी ।" इसलिए ठाकुर कह रहे हैं कि जो गृहस्थ हैं, उन्हें बाहर से संसार-त्याग करने की आवश्यकता नहीं है, उनके लिए आवश्यकता है मन से संसार के प्रति आसक्ति का त्याग करने की ।

संन्यासी के लिए भी यह मानसी त्याग ही असल बात है. लेकिन फिर भी उसके लिए बाहरी त्याग की आवश्यकता है, क्योंकि उसे त्याग के आदर्श की स्थापना करनी होगी । इसलिए ऊपर से देखने में संन्यासी और गृहस्थ दोनों के लिए उपदेश में पृथकता रखी गयी है । लेकिन क्या इसका यह अर्थ है कि संन्यासी संसार से बाहर है ? क्या संसार से उसका कोई सम्पर्क नहीं रहेगा ? यदि रहेगा तब फिर वह क्या करेगा ? निश्चय ही उसे निर्लिप्त

रहना होगा । संसार में सर्वत्र, समस्त वस्तुओं को निर्लिप्त दृष्टि से देखना होगा । सबको यह ध्यान रखना होगा कि गृहस्थ, संन्यासी सभी के लिए यह उपदेश पूरी तरह सत्य है । जब तक देहाभिमान है, बाह्य त्याग के होते हुए भी संन्यासी मुक्त नहीं है । त्यागी हो चाहे गृहस्थ, इस अभिमान को दूर करने के लिए उसे साधना करनी होगी ।

राम-वसिष्ठ-संवाद

लिखना-पढ़ना सीखकर विचार-बुद्धि के सहारे संसार के स्वरूप के सम्बन्ध में हम एक सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं, बस इतना ही । पर संसार हमें तभी आकर्षित नहीं कर पाएगा, जब हमारे मन में यह धारणा दृढ़ हो जाएगी कि संसार असार है, तुच्छ है । किन्तु फिर भी संसार तो रह ही जाता है, उसका त्याग करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है—इस बात को ठाकुर श्रीरामचन्द्र और वसिष्ठ के संवाद की चर्चा करके पुन: जोर देकर कहते हैं । श्रीराम के मन में वैराग्य का उदय हुआ है । वे कहीं संसार का त्याग न कर दें, यह सोचकर राजा दशरथ ने उन्हें समझाने के लिए वसिष्ठजी को भेजा । राम-वसिष्ठ-संवाद 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है । नि:सन्देह वहाँ पर चरम अद्वैतवाद का उपदेश दिया गया है । कहा गया है कि जगत्-संसार सब मिथ्या है—खरगोश के सींग के समान, आकाशकुसुम के समान मिथ्या है । अत: जो मिथ्या है, उसका त्याग भला किस प्रकार किया जाएगा ? त्याग तो सत्य वस्तु का ही हो सकता है, मिथ्या का नहीं । पर वर्तमान आख्यान में ठाकुर इस युक्ति का प्रयोग न कर वसिष्ठ की एक दूसरी युक्ति का उल्लेख करते हैं । वसिष्ठ

राम से पूछते हैं, "संसार क्या ईश्वर से अलग है ? यदि है, तो तुम उसका त्याग करो ।" राम ने देखा कि ईश्वर ही जीव-जगत्, सब कुछ हुए हैं । उनकी सत्ता से ही यह बोध हो रहा है कि सब सत्य है । तब वे चुप रह गये । यह जो ईश्वर ही सब कुछ हुए हैं—जीव-जगत्, चौबीस तत्त्व सब कुछ, यह ठाकुर का एक विशेष सिद्धान्त है, जिसे उन्होंने बार बार दुहराया है । 'न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्'—उन्हें छोड़कर इस जगत् में स्थावर, जंगम अन्य कोई वस्तु है ही नहीं ।

यदि वे ही सर्वत्र हैं, तो फिर संसार-त्याग करने की क्या आवश्यकता है ? संसार के त्याग का प्रयोजन वहीं तक है, जहाँ तक संसार मन को ईश्वर से विमुख करता है । लेकिन जब उसी ईश्वर को सर्वत्र ओतप्रोत रूप से देखा जाता है, तब फिर संसार के त्याग की बात कहाँ उठती है ? इसलिए ठाकुर ने भले ही किसी व्यक्ति-विशेष के लिए संसार-त्याग की बात कही हो, पर सब के लिए वे संसार-त्याग का उपदेश नहीं देते । वे कहते हैं, "इस सत्य पर प्रतिष्ठित हो जाओ कि वे समस्त संसार में परिव्याप्त हैं । ब्रह्म को छोड़ इस चित्र-विचित्र जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है । शास्त्र भी कहते हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।' अतः किसका त्याग करोगे ? ईश्वर के त्याग का तो प्रश्न ही नहीं उठता । जो यह समझता है कि संसार उसके मन को ईश्वर से विमुख कर दे रहा है, उसके सामने ऐसा प्रश्न उठ सकता है । पर इस प्रश्न का उत्तर संसार का त्याग नहीं है—संसार के प्रति आसक्ति का त्याग है । इसलिए ठाकुर कह रहे हैं—अनासक्त होकर संसार में रहो ।

कौन कहता है कि यह संसार भोग-सामग्री से भरा है ? कौन कहता है कि यह संसार मन को ईश्वर से विमुख कर देगा ? यदि सर्वत्र ही ईश्वर को देखो, तब मन उनसे कैसे विमुख हो सकता है ? यह समझ लेना होगा कि वे सर्वत्र परिव्याप्त हैं, तब फिर संसार को त्यागने का प्रश्न नहीं उठेगा। इसी बात को ठाकुर ने एक अन्य स्थान पर एक दूसरे ढंग से कहा है, "आँख मूंदकर ध्यान कर रहा था, लेकिन अच्छा नहीं लगा। क्या आँख बन्द करने से ही वे हैं और आँख खोलने पर नहीं ?"

हम देखते हैं कि जिसके लिए जो अनुकूल है, ठाकुर ने उसे वही उपदेश दिया है। संन्यासी श्रेष्ठ है और गृहस्थ निकृष्ट—ऐसा उन्होंने कभी नहीं कहा। दोनों ही भगवान् को पाने में समर्थ हैं। प्रत्येक के लिए अपने संस्कार के अनुसार अपने अपने रास्ते पर चलना आसान होता है। स्वामी विवेकानन्दजी ने भी इस सम्बन्ध में विस्तार से कहा है। जो भी अपने आदर्श तक पहुँचा है, वही श्रेष्ठ है। एक व्यक्ति के लिए दूसरे के आदर्श पर विचार करना उचित नहीं होगा। स्वामीजी ने यह भी कहा है कि त्यागी के जीवन की श्रेष्ठता केवल एक ही दृष्टि से है कि उसने त्याग के आदर्श को जान-समझकर स्वीकार किया है, तथा संसार के परम्परागत पथ का परित्याग कर अन्य पथ पर चलने की चेष्टा करता है। इस प्रकार वह अपने जीवन में त्याग के आदर्श को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है। लेकिन यह कहने के साथ साथ स्वामीजी पुनः सावधान कर देते हैं कि त्याग के इस आदर्श के प्रति श्रद्धा रखना अच्छा है, पर कहीं वह अन्धश्रद्धा में परिणत न हो, इसका ध्यान रखना होगा। यह देखना होगा

कि सभी लोग उस पथ के अनुसरण में न लग जायँ। इस अन्धानकरण का कैसा दुष्परिणाम हुआ था, वह बौद्धकाल में देखा गया है।

दो रास्ते—संसार और संन्यास

यह ध्यान रखना होगा कि संसार से होकर भी भगवान् की ओर जाने का खुला रास्ता है। शास्त्र पढ़ने पर दिखाई देता है कि स्वयं भगवान् ने ही मानो इन दोनों रास्तों का आविष्कार किया है। जगत् की सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार, इन चार ऋषियों की सृष्टि की और उनसे कहा—तुम लोग जाओ और प्रजा का विस्तार करो। पर वे लोग सहमत नहीं हुए। बोले—"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः"—अर्थात् सन्तान-सन्तति को लेकर हम क्या करेंगे? वे जगत् को भोग के लायक बना देंगे, पर हमें उसका क्या प्रयोजन? यह आत्मा ही हमारा लोक अर्थात् भोग्य है। इसे छोड़ अन्य किसी वस्तु की हमें आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार जब उनके द्वारा प्रजा की सृष्टि नहीं हुई, तब ब्रह्मा ने प्रजापतियों की सृष्टि की और उनको आदेश दिया कि तुम लोग प्रजा की सृष्टि करो। वे उस निर्देश को स्वीकार कर सृष्टि-कार्य में लग गये। इसीलिए कहता हूँ कि सृष्टि के आरम्भ से ही मानो दो आदर्श चल रहे हैं—एक संन्यासी का और एक गृहस्थ का। लेकिन मन से त्याग, आन्तरिक व्याकुलता तथा ईश्वर पर सुदृढ़ विश्वास की आवश्यकता दोनों के लिए है। उनकी कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है, यह विश्वास लेकर व्याकुलता-पूर्वक प्रार्थना करने से, उन पर निर्भर होकर आगे

बढ़ने से वे स्वयं सब बाधा दूर कर देंगे। प्रतिकूलता चाहे जितनी हो, उनके शरणापन्न होने से सब दूर हो जाएगी। हम स्वयं तो कुछ करते नहीं हैं, करने की चेष्टा भी नहीं करते और परिस्थिति को दोष देते हैं। यदि सच्चे अन्तःकरण से उन्हें चाहें, उनके ही आश्रित रहें, तो सब प्रतिकूलताएँ दूर हो जाएँगी। ईश्वर पर विश्वास रखकर व्याकुलतापूर्वक प्रार्थना करते हुए शरणागत होना पड़ेगा। यह शरणागति ही असल बात है।

निर्भरता और शरणागति

कई बार हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि भगवान् को हृदय में रखकर भला क्या संसार का व्यवहार करना सम्भव है ? बहुत प्रयत्न करने के बाद ज्योंही मन थोड़ी देर के लिए भगवान् की ओर गया, त्योंही इतने व्यवधान खड़े हो जाते हैं कि मन वहाँ अधिक देर टिक नहीं पाता। इन सब असुविधाओं को ठाकुर भी जानते हैं, इसीलिए पहले ही कहते हैं. "संसार में काम-क्रोध इन सबके साथ युद्ध करना पड़ता है। किले के भीतर से युद्ध करने में ही सुविधा है।" संसार में रहते हुए भगवान् के चरणों में मन को लगाये रखना—यह मानो किले के भीतर से युद्ध करना है। जो एकान्त भाव से ईश्वर के शरणागत होते हैं, उनका भार भगवान् स्वयं ले लेते हैं तथा संसार को उनके अनुकूल कर देते हैं। ऐसी स्थिति में संसार भगवान् को पाने के मार्ग में व्यवधान तो बनता नहीं, उल्टे सहायक हो जाता है। जहाँ पर मन भोग के लिए छटपटाता है, वहाँ संसार में रहकर उस भोगवृत्ति को थोड़ा बहुत चरितार्थ करने में दोष नहीं है। लेकिन संसार-त्याग करने के बाद वासना यदि मन को चंचल कर दे, तब तो

सर्वनाश हो जाएगा। तब वह जाएगा कहाँ ? तब तो उसका कहीं पर ऐसा कुछ नहीं है, जिसके आश्रय में वह सुरक्षा पाएगा। इसीलिए संसार में उसे कैसे रहना होगा, इस सम्बन्ध में ठाकुर कह रहे हैं, "आँधी में जूठी पत्तल बनकर संसार में रहो।" अर्थात् उन पर पूरी तरह निर्भर होकर रहो। ऐसा होने पर जहाँ परिस्थिति अनुकूल है, वहाँ वे स्वयं तुम्हें ले जाएँगे। ठाकुर आगे और भी कहते हैं, "आँधी उस जूठी पत्तल को कभी घर के भीतर ले जाती है तो कभी कूड़े-करकट में। हवा जिधर जाती है, पत्तल भी उधर ही जाती है—कभी अच्छी जगह, कभी खराब जगह। जब उन्होंने तुम्हें संसार में रखा है, तो क्या करोगे ? सब कुछ उनके चरणों में अर्पित कर दो—आत्मसमर्पण कर दो। तब और कोई गोलमाल नहीं रहेगा। तब देखोगे कि वे ही सब कुछ कर रहे हैं।" असल में यह यह प्रश्न गौण है कि तुम कहाँ पर हो और किस तरह हो। हमें केवल दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है। उपनिषद् में कहा है, 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'—उस ईश्वर से सम्पूर्ण जगत् को ढक लो। जगत् को जगत् के रूप में न देख ईश्वर के रूप में देखना सीखो। ऐसा होने पर फिर कहीं भी अमंगल, अपावनता नहीं देख पाओगे।

एक बार ठाकुर कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने देखा कि कुछ शराबी शराब पीकर मतवाले हो रहे हैं। देखते ही 'वाह वाह, बहुत अच्छे !' कहकर आनन्द में विभोर हो समाधिस्थ हो गये। मतवालों के आनन्द ने उन्हें ब्रह्मानन्द का स्मरण करा दिया, क्योंकि वे तो सर्वत्र ब्रह्मस्वरूप का ही दर्शन करते थे। बाइबिल में भी लिखा

है—'Thou seest evil because thine eyes are evil'—(तू अशुभ देखता है, क्योंकि तेरी आँखें ही अशुभ हैं)। संसार के समस्त अशुभ को झटककर दूर नहीं किया जा सकता। वह तो वैसा ही होगा, जैसे एक राजा ने रास्ते की धूल को झाड़ू लगाकर साफ करने की व्यवस्था की थी। अन्त में जूता पहनने से जैसे राजा की समस्या का समाधान हुआ था, वैसे ही यहाँ भी दृष्टिकोण बदल लेने से ही संसार में रहने या न रहने की समस्या का समाधान हो जाएगा। यदि सबको ईश्वर से परिव्याप्त देखा जाय, तब पवित्र-अपवित्र, अच्छा-बुरा कोई द्वन्द्व नहीं रह जाता। इसीलिए हम देखते हैं कि हमारी दृष्टि में जो दृश्य अशुभ और अपवित्र दिखाई देते हैं, वे भी ठाकुर के अन्तःकरण में ईश्वर का ही भाव जगा देते थे।

चाहे जहाँ भी रहा जाय, भगवान् को पाने के लिए जैसे एक ओर इस दृष्टिकोण की आवश्यकता है, उसी तरह दूसरी ओर दृढ़ विश्वास की आवश्यकता है कि वे ही सब कुछ कर रहे हैं। गृहस्थ हो चाहे संन्यासी, सबको इसी दृष्टिकोण और विश्वास का आश्रय लेकर साधना-पथ पर आगे बढना होगा। साधना का अर्थ है विषयासक्त मन को विषयों से विरत करने की चेष्टा करना और प्रार्थना करना जिससे मन की विषयासक्ति दूर हो जाय। कारण यह है कि जोर-जबरदस्ती करके विषयों से विरत हो जाने से ही मन विषयों से निवृत्त नहीं हो जाता। इसीलिए गीता में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।२।५९।।

जन्म-जन्मान्तर से जो संस्कार जड़ें जमाकर बैठे हैं, वे इस

संसार से बाहर जाने मात्र से दूर हो जाएँगे, यह कभी भी सम्भव नहीं है। वह तो अभ्यास-सापेक्ष है। फिर भी किसी को विषयों के बीच रहकर अभ्यास करने की आवश्यकता है और किसी के लिए विषयों से दूर रहकर। अलग अलग लोगों के लिए अलग अलग परिवेश अनुकूल होता है।

तंत्र का दिव्य, वीर और पशु भाव

इसीलिए तंत्रशास्त्र में साधकों के भावों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है, जैसे दिव्य भाव, वीरभाव और पशुभाव। जिसके अन्तःकरण में विषयासक्ति प्रबल है, उसका पशुभाव है। पशु माने जीव अर्थात् जिसके मन में जीवभाव या जैव प्रकृति अत्यन्त प्रबल है, उसके लिए यह विधान है कि वह विषयों या भोग की वस्तुओं से दूर रहे, भोग्य वस्तुओं से बचकर रहे, ताकि उसके मन को विषय आकर्षित न कर लें। इसके बाद है वीरभाव अर्थात् मन के ऊपर जिसका कुछ नियंत्रण है। उसके लिए ऐसा विधान है कि वह विषयों के बीच रहकर भी ऐसी चेष्टा करे कि मन विषयों की ओर न जावे। इस संघर्ष में ही उसकी परीक्षा है। इसके बाद है दिव्य भाव। जिसके मन से अशुभ संस्कार मिट गये हैं, वह दिव्य स्वरूप हो गया है। उसके लिए भोग्य वस्तुओं के बीच रहने न रहने में आदर्श की कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उसका मन अब ऐसे सुर में बँध गया होता है कि वह भोग्य वस्तुओं की ओर जाता ही नहीं। वह चाहे जहाँ रहे, उसके लिए सभी समान हैं। अब इन तीनों में से क के लिए जो अनुकूल है, वह दूसरे के लिए अनुकूल तो है ही नहीं, अपितु त्याज्य है। इसे न समझ पाने के कारण ही

पशुभावापन्न साधक वीरभाव का अनुकरण करते हुए केवल अपना ही सर्वनाश नहीं करता, अपितु संसार का भी अकल्याण करता है। फिर ऐसा भी नहीं है कि वीरभाव का साधक सदा भोग्य वस्तुओं से घिरा रहे। उसे विषयों के बीच रहते हुए भी ऐसी चेष्टा करनी पड़ती है, जिससे वह उनसे स्वतंत्र रहे, क्योंकि संसार से भाग जाने के लिए तो कोई जगह ही नहीं है।

आसक्ति-नाश

अब यहाँ फिर से पिछले प्रसंग पर आ जायँ। ऐसा देखा जाता है कि जब तक मैं स्वयं की एक व्यक्ति के रूप में, एक जीव के रूप में कल्पना करता हूँ, तब तक मेरे लिए इस संसार के दायरे से छुटकारा पाने का उपाय नहीं है। अतः मन को तैयार करना होगा। मन की दृष्टि को वापस फेरना होगा, उपनिषद् की भाषा में 'आवृत्तचक्षु' होना होगा। ठाकुर का भी यही कहना है। मन को विषयों की ओर से मोड़कर आत्माभिमुखी करो, उसकी दिशा बदल दो, तभी बचाव है। यह धारणा गलत है कि संसार का त्याग कर देने से ही हम निश्चिन्त हो जाएँगे, मन अन्तर्मुखी हो जाएगा। हमारा मन तभी अन्तर्मुखी होगा, जब विषया-सक्ति दूर होगी। यदि विषयासक्ति रहेगी, तो संसार के भीतर तो वह शत्रुता करेगी ही, पर संसार के बाहर उसकी शत्रुता और भी प्रबल हो जाएगी। इसलिए ठाकुर बार-बार सावधान कर दे रहे हैं, "संसार में रहने से क्यों नहीं होगा? फिर संसार को छोड़कर जाओगे कहाँ?" आगे कहते हैं, "एक मुंशी जेल गया। सजा पूरी होने के बाद जेल से छूटकर क्या वह छम-छम नाचता फिरेगा, या मुंशीगिरी करेगा?" संसारी व्यक्ति अगर जीवन्मुक्त हो जाय तो

वह चाहने से ही अनायास संसार में रह सकता है। जिसे ज्ञानलाभ हो गया है, उसके लिए यहाँ-वहाँ नहीं है, उसके लिए सब समान है। जो सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करते हैं, वे चाहे जहाँ रहें, उन्हें कोई हानि नहीं होती। पूर्वसंस्कारवश वर्तन करने पर भी कोई विषय या कर्म उन्हें फिर से बाँध नहीं पाता, क्योंकि उस परमतत्त्व को जान लेने के कारण विषय-रस से उनकी सम्पूर्णरूप से निवृत्ति हो जाती है—'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'। ठाकुर यहाँ भी एक दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—"जब तक मेंढक की पूँछ नहीं झड़ जाती, तब तक उसे पानी में ही रहना पड़ता है, वह जमीन पर उछल-उछलकर नहीं घूम सकता। जब पूँछ झड़ जाती है, तब उछलकर जमीन पर आ जाता है। तब पानी में भी रहता है और जमीन पर भी। वैसे ही जब तक मनुष्य की अविद्या की पूँछ नहीं झड़ जाती, तब तक वह संसार-जल में ही पड़ा रहता है। अविद्या की पूँछ झड़ जाने पर, ज्ञान होने पर, मुक्त होकर घूम सकता है और इच्छा होने पर संसार में भी रह सकता है।" लेकिन जब तक वह उस परमतत्त्व को नहीं जान लेगा, तब तक वह चाहे जहाँ रहे, संघर्ष करते ही रहना होगा। इसीलिए ठाकुर ने कहा है—तुम किले के भीतर से युद्ध कर रहे हो, इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि युद्ध करते हुए यदि दो-चार बार हार हो जाय तो उसमें दोष नहीं है, फिर से उठकर भिड़ सकोगे। लेकिन अगर संसार-त्याग करने के बाद हार गये, तब तो कहीं के नहीं रह जाओगे, क्योंकि तुम एक ऐसे आदर्श को पकड़ने की चेष्टा कर बैठे हो, जिसके भीतर कोई समझौता सम्भव नहीं है। उस आदर्श को अधःपतित करने से तुम्हारा भी अमंगल होगा और समाज का भी। अतः इस दिशा में

बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाना होता है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि हमारा रास्ता कौनसा है? इसका उत्तर शास्त्र ने दिया है तथा जो साधु हैं, दिव्यदृष्टिसम्पन्न हैं, उन्होंने भी कहा है कि देखो, अगर तुम्हारे भीतर प्रबल वैराग्य है—'प्रबल' या 'तीव्र' विशेषण यहाँ पर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—तो तुम संसार त्याग करके जा सकते हो, लेकिन यदि तुम्हारे भीतर वैराग्य की तीव्रता नहीं है. तब तो तुम्हारा जहाँ हो वहीं रहना ठीक है, वहीं रहकर साधना करना उचित है। यदि अनधिकारी व्यक्ति संन्यास के आदर्श को ग्रहण करता है, तो उसके लिए उस आदर्श को अक्षुण्ण बनाये रखना सम्भव न होगा; और आदर्श जिस परिमाण में नष्ट होगा, वह उसी परिमाण में समष्टिगत भाव से मलिन होगा, जो जगत् के लिए कल्याणकारी न होगा। इसीलिए बौद्ध धर्म के विशेष अनुरागी होते हुए भी स्वामीजी ने कहा है, "बिना सोचे-विचारे संन्यास-धर्म का प्रचार कर बुद्धदेव ने समाज का एक महान् अकल्याण किया है।"

संन्यास और गार्हस्थ्य आश्रम

मूल बात यह है कि व्यक्ति चाहे किसी भी आदर्श को स्वीकार क्यों न करे, सभी ईश्वर को पाने के मार्ग पर चल रहे हैं। कई बार देखा जाता है कि गृहस्थों में भी ऐसे अनेक लोग हैं, जो महान् त्यागी हैं। फिर त्यागमय जीवन का अवलम्बन करनेवालों में कुछ ऐसे भी होते हैं, जो पूरी निष्ठा के साथ उस मार्ग पर नहीं चल पाते। इसलिए स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उठता है कि फिर संन्यासी को विशेष सम्मान क्यों दिया जाता है? इसका कारण यह है कि संन्यासी ने अपने लिए एक महान् आदर्श चुन रखा

है । दूसरी ओर संसारी व्यक्ति सामान्यतया परम्परागत जीवन बिताता है, उसने स्वेच्छा से किसी विशेष पथ का निर्वाचन नहीं किया है—जहाँ उसका जन्म हुआ, वहीं वह बड़ा हुआ और वहीं टिका हुआ है । यह तो हुई एक बहिरंग दृष्टि । लेकिन संसारी व्यक्ति यदि संसार को एक आश्रम समझे और स्वयं को एक आश्रमी मानकर चले, तो परम्परा की यह बात हट जाती है । हमारे शास्त्रों में भी ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों को समान आदर दिया गया है तथा कहा गया है कि अनाश्रमी अर्थात् जिसने किसी भी आश्रम का अवलम्बन नहीं किया है, उसका जीवन व्यर्थ है । इस पर कहा जा सकता है कि इनमें से एक या एकाधिक आश्रम का अवलम्बन तो सभी को करना होगा. अतः व्यर्थता का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? तो इसका उत्तर यह है कि पारम्परिकता से मुक्त होकर आश्रमविशिष्ट के अनुरूप समस्त कर्तव्यों का सार्थकता के साथ सम्पादन करते हुए भगवान् को प्राप्त करने की चेष्टा करना ही ठीक ठीक आश्रमी का जीवन होता है । इसमें ब्रह्मचर्य आश्रम सभी आश्रमों के लिए बुनियादस्वरूप है, जहाँ व्यक्ति परवर्ती आश्रमों में से किसी एक का अवलम्बन करने के लिए अपने को तैयार करता है । ब्रह्मचर्य के बाद वह चाहे तो क्रमशः तीनों ही आश्रमों का अवलम्बन कर सकता है, लेकिन अगर किसी के मन में पहले ही तीव्र वैराग्य का उदय हो जाय, तो वह समस्त कर्तव्यों को फेंककर तत्काल भगवान् के लिए निकल भी सकता है, जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है, 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ।' पर हाँ, यह वैराग्य तीव्र होना चाहिए । यहाँ कोई पलायनी वृत्ति (escapism) नहीं

चलती । वैराग्य में ऐसी तीव्रता हो कि संसार अन्धकूप प्रतीत हो, जिसमें गिरना ही मृत्यु है ।

वैराग्य सहज और अनुकूल तब होता है, जब इस तरह की मन:स्थिति तीव्र हो उठती है कि ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु में मन को लगाकर उसका अपव्यय नहीं करूँगा । लेकिन जब तक वैराग्य इतना तीव्र रूप धारण न करे, तब तक गृहस्थ-आश्रम की सहायता की आवश्यकता होती है । संसार को 'धर्म का संसार' में बदल सकने पर वह साधना के ही अनुकल हो जाता है । इसीलिए ठाकुर दोनों ही आदर्शों का प्रचार करते हैं । उद्देश्य एक है—भगवान् को पाना, लेकिन अधिकारी-भेद से मार्ग दो हैं । यदि संसार में रहते हुए भी कोई नागमहाशय की तरह संसारी हो सके, तो उसके इस संसार में रहने में कोई दोष कहाँ है ? और यदि कोई स्वामीजी के समान हों या यथार्थ त्यागी साधु के समान हों, तो संसार से उनका क्या प्रयोजन ? इसलिए जिसके लिए जो अनुकूल है, उसके लिए ठाकुर ने वैसा ही उपदेश दिया है । ऐसा सोचना ही गलत है कि उन्होंने कहीं समझौता किया है, या कि संसारियों को झठी सान्त्वना दी है ।

श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की विविधता

भावग्राही ठाकुर किसी के भाव को नष्ट करने क विरोधी थे, इसलिए जब उन्होंने अपने संन्यासी शिष्यों को उपदेश दिया, तब अत्यन्त सावधानीपूर्वक दिया, जिससे अन्य और कोई न सुन पाए । क्या उनकी यह सावधानी पक्षपातपूर्ण है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है । वे जानते थे कि वे लोग संसार का आश्रय लिये बिना ही आगे बढ सकते हैं । इसलिए संसार के सम्बन्ध में उनके मन में अगर सामान्य

दुर्बलता भी बच रही होती तो उसे दूर करने के लिए उनके सामने एक ओर तो संसार का एक बीभत्स और भयंकर चित्र खींचकर रख देते और दूसरी ओर त्यागमय जीवन के लिए जीवन्त शब्दों में त्याग का उपदेश देते । लेकिन जिनको साधना के लिए गृहस्थ-जीवन ही अनुकूल है, उनके मन में इस तीव्र वैराग्य के आदर्श को सुनकर कहीं संशय न उत्पन्न हो, इसलिए ठाकुर इस प्रकार की सावधानी बरतते थे । इस बात का ध्यान रखना होगा कि अपने 'आश्रम' के प्रति श्रद्धा न रहने पर व्यक्ति कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता । इसलिए संसारी व्यक्ति को हमेशा ध्यान रखना होगा कि यह संसार कोई तुच्छ वस्तु नहीं है, यह भगवान् की ओर जाने का एक रास्ता है, एक उपाय है । अनेक संसारी लोगों के मन में संसारी होने के कारण एक हीन भावना रहती है, यह ठीक नहीं है । यह ठाकुर का आदर्श नहीं है । 'संसरति इति संसारः'—जो जन्म-मृत्यु के बीच में से जा रहा है, वह संसारी है । इस दृष्टि से देखने पर संसारी कौन नहीं है ? इसलिए ठाकुर सबसे कहते हैं—आगे बढ़ जाओ, जो जहाँ हो वहीं से भगवान् को पाने के लिए आगे बढ़ चलो ।

त्यागी और गृहस्थ के प्रति उनके उपदेशों में यद्यपि कुछ विरोधाभास दिखाई देता है, तथापि दोनों सत्य हैं । इसी प्रकार और भी एक स्थान पर उनकी उक्ति स्व-विरोधी प्रतीत होती है । वह यह कि जब ठाकुर परमतत्त्व के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं, तब अलग-अलग स्थान पर अलग-अलग प्रकार से कहते हैं । कहीं पर कहते हैं, "वे एक हैं, अद्वितीय हैं, मन-वाणी के अगोचर हैं ।" कभी कहते हैं, "वे कैसे हैं जानते हो ? जैसे मोम का फूल, मोम का फल, मोम का

बगीचा।" फिर कभी कहते हैं, "नाहं नाहं, तुहूँ तुहूँ।" कभी कहते हैं, "मैं ही वह हूँ।" वस्तुतः हम शास्त्रों में भी इस प्रकार की बहुत सी परस्पर-विरोधी उक्तियाँ देखते हैं, लेकिन यदि इनके अन्तरंग में पैठकर विचार किया जाय तो दिखाई देगा कि वास्तव में इनमें कोई विरोध नहीं है। ये जो विभिन्न उपदेश हैं, वे सभी सत्य हैं, क्योंकि परमार्थ-पथ पर चलते हुए साधक को इन विभिन्न अनुभूतियों के बीच में से गुजरना होता है। ठाकुर ने स्वयं सभी प्रकार की साधनाओं का अवलम्बन किया था। जो भाव हम लोगों को परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं, उन सबकी उपलब्धि उन्होंने अपने जीवन में की थी, इसीलिए जिसके लिए जो भाव ग्रहण करना उन्होंने सहज समझा, उसके लिए वही उपदेश दिया है। ठाकुर एक ही आधार में द्वैतवादी, अद्वैतवादी तथा विशिष्टाद्वैतवादी हैं। वे जानते हैं कि ये सभी सत्य हैं तथा इनमें से प्रत्येक किसी न किसी के लिए उपयोगी है। In my Father's house there are many mansions (St. John, 14/2)—अर्थात् मेरे पिता के मकान में बहुत से भवन हैं। ठाकुर इन सभी भावों में से गुजरे हैं और जिसके लिए जो भाव सहज है, उसको उसी का निर्देश दिया है। इसीलिए उन्हें विभिन्न समय में विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न उपदेश देने पड़े हैं, और उन्हीं समस्त उपदेशों का संकलन 'वचनामृत' है। यही कारण है कि हमें बीच-बीच में सन्देह होता है कि उनके उपदेश तो स्व-विरोधी हो रहे हैं। हम तो यहाँ तक देखते हैं कि जो मार्ग समाज के लिए घृणास्पद है, उसका भी उल्लेख ठाकुर ने किया है और कहा है कि यह भी भगवान् को पाने का रास्ता है। और मात्र कहा ही नहीं,

बल्कि स्वयं आंशिक रूप में उसका अनुशीलन भी किया है। लेकिन साथ ही साथ उन्होंने भक्तों को सावधान करते हुए कहा है कि वह बड़ा गन्दा रास्ता है, यदि अधिक लोग इस मार्ग का अवलम्बन करेंगे, तो इससे समाज की हानि होगी। इस तरह यह सत्य है कि उन्होंने इस पथ की निन्दा की है, लेकिन यह भी सत्य है कि इस पथ का अनुसरण कर जिसने भगवान् के पास पहुँचने की चेष्टा की है, उसको उन्होंने सम्मान भी दिया है। इस प्रकार अनेक परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों के आचार-अनुष्ठान का पालन कर तथा अनेक परस्पर-विरोधी मतवादों को लेकर अन्ततः ठाकुर सभी की सत्यता की उपलब्धि करने में समर्थ हुए थे। यही कारण है कि उनके उपदेशों में इतनी विविधता है।

○

श्री चैतन्य महाप्रभु (४)

स्वामी सारदेशानन्द

(लेखक माता सारदा देवी के शिष्य एवं सेवक रहे हैं। माँ के सम्बन्ध में उनके संस्मरण धारावाहिक रूप से 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित हो चुके हैं, जो अब रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा पुस्तकाकार में 'मातृस्नेह की छाया में' नाम से प्रकाशित किये गये हैं। उनकी रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक, स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं। —स०)

तृतीय अध्याय

(पूर्वार्ध)

हरिदास-प्रसंग, नित्यानन्द का आगमन और कीर्तन-प्रचार

हरिदास ठाकुर अथवा 'यवन हरिदास' अपने पूर्व जीवन में मुसलमान थे। किसी किसी का कहना है कि मुसलमान के घर में ही उनका जन्म हुआ था, फिर कोई कोई कहता है कि वे ब्राह्मण की सन्तान थे, परन्तु शैशव-काल में ही माता-पिता को खोकर असहाय हो जाने पर एक हृदयवान् मुसलमान दम्पति ने उनका लालन-पालन किया। जन्म उनका चाहे जहाँ भी हुआ हो, पर बाल्यकाल में वे मुसलमान थे, इस विषय में कोई सन्देह नहीं। आयु में वृद्धि के साथ ही साथ उनके अन्तर में ईश्वर-भक्ति तथा हरिनाम के प्रति प्रबल अनुराग का उदय हुआ था और क्रमशः उसमें वृद्धि होती जाने के कारण उन्होंने प्रतिक्षण उच्च-स्वर में हरिनाम का जप करना आरम्भ कर दिया। नाते-रिश्ते तथा पास-पड़ोस के सभी ने उन्हें मना किया,

बहुत समझाया, परन्तु किसी भी उपाय से वे हरिनाम छोड़ने को राजी नहीं हुए। आखिरकार नाराज होकर उन लोगों ने काजी की अदालत में शिकायत की। काजी ने भी उन्हें हरिनाम का उच्चारण करने से मना किया, भारी सजा देने का भय भी दिखाया; परन्तु कोई फल न हुआ। हरिदास पहले के समान ही उच्च-स्वर में हरिनाम का जप करते रहे। अन्त में काजी ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर आदेश दिया, "इस धर्मत्यागी को बेंत मारते हुए बाईस बाजार घुमाकर लाओ और जब तक यह हरिनाम नहीं छोड़ता, तब तक इसे बेंत मारते रहना।" जल्लादों ने उनके हुक्म पर तामील करने के लिए हरिदास को पकड़ लिया और उन्हें बेंत लगाते हुए बाईस बाजार घुमाने को ले चले। बेंत की चोट से हरिदास की देह से खून बहने लगा, चमड़ी उधड़ गयी, पर हरिनाम बन्द नहीं हुआ।

उनका मन हरि में पूर्णतः तन्मय हो गया था, अतः उन्हें बेंत की चोट से बिल्कुल पीड़ा नहीं हुई, बल्कि उल्टे उनके भाव से दमकते मुखमण्डल पर स्निग्ध मधुर हास्य दिखाई दे रहा था। उनकी अटल निष्ठा, अद्भुत तितिक्षा और अपूर्व भक्ति देख सबके हृदय आश्चर्य से अभिभूत हो गये; जिन लोगों ने उन पर बेंत बरसाये थे, उन्हें भी अब भय के कारण प्रहार करने का साहस न हुआ। काजी ने भी आतंकित होकर उन्हें मुक्त कर देने को कहा और भीतिपूर्वक हरिदास से क्षमा माँगकर उनसे अन्यत्र चले जाने का अनुरोध किया। उनका पूर्व नाम क्या था यह तो ज्ञात नहीं, परन्तु उस दिन से वे 'यवन हरिदास' के नाम से जाने जाने लगे। भक्तगण उन्हें श्रद्धापूर्वक 'ठाकुर हरिदास' कहा करते थे।

हरिदास अपने जन्मस्थान यशोहर (जैसोर) जिले के ब्यूढ़न ग्राम का परित्याग कर दूर के एक गाँव के छोर पर जंगल के किनारे एक कुटिया बनाकर स्वान्तःसुखाय प्रतिदिन उच्च-स्वर में तीन लाख हरिनाम का जप करते हुए कालयापन करने लगे। उनके भावभक्ति की बातें सर्वत्र फैल जाने के कारण बहुत से लोग उनके दर्शनों को आने लगे। इस प्रकार अल्प अवधि में ही उस अंचल में उनकी ख्याति फैल जाने के कारण वहाँ के प्रबल प्रतापी जमींदार रामचन्द्र खाँ के मन में भीषण ईर्ष्या का उदय हुआ। रामचन्द्र ने मन ही मन एक उपाय सोचा और हरिदास के प्रभाव को समाप्त करने तथा लोगों की दृष्टि में उन्हें हीन सिद्ध करने के लिए एक दुष्ट महिला को नियुक्त किया। रामचन्द्र के निर्देशानुसार धन के लोभ में आकर उस दुष्टा नारी ने हरिदास को कुमार्ग पर ले जाने के उद्देश्य से एक दिन गहन रात को उनकी कुटिया में प्रवेश किया। हरिदास अपने आप में डूबे एकाग्रचित्त से हरिनाम जप रहे थे, उसी समय उक्त महिला ने आकर उन्हें प्रणाम किया और उनके सामने खड़ी हो गयी। हरिदास ने आँखें खोलकर उसकी ओर दृष्टिपात किया और संकेत से उसे बाहर बैठने का स्थान दिखा दिया। वहाँ बैठकर वह प्रतीक्षा करने लगी। इधर हरिदास पुनः हरिनाम में तन्मय हो गये। उस महिला की बात उनके मन से उतर ही गयी। बाहर बैटकर उसने काफी समय तक प्रतीक्षा की। उसने सोचा कि अपना जप पूरा करने के बाद हरिदास अवश्य ही उसके पास आएँगे और वार्तालाप करेंगे; परन्तु हरिदास का न तो जप बन्द हुआ और न वे कुछ बोले ही। महिला उन पर नाराज होकर पुनः उनके सामने जा खड़ी हुई और

स्वयं ही बातें छेड़कर उन्हें भुलावा देने की चेष्टा करने लगी। हरिदास ने पुनः उसे बाहर जाकर जप पूरा होने तक प्रतीक्षा करने का संकेत किया। वह साधु के आदेश की अवहेलना न कर सकी और कोई चारा न देख बाहर बैठी-बैठी जप समाप्त होने की राह देखने लगी। इस प्रकार पूरी रात बीत गयी, पर हरिदास का जप पूरा न हुआ और न ही उन्होंने आसन छोड़ा। भोर हो जाने पर वह महिला दुःखी चित्त से अपने घर लौट गयी।

उसके मुख से सारी बातें सुनकर रामचन्द्र खाँ और भी कुपित हुआ और उसे दुगुना उत्साह देते हुए अगली रात को पुनः भेजा। उस दिन वह सन्ध्या के बाद ही उनकी कुटिया में जा पहुँची और अपनी मधुर वाणी तथा हाव-भाव दिखाकर उन्हें मोहित करने का प्रयास करने लगी, परन्तु कोई भी फल नहीं निकला। हरिदास ने पूर्व दिन के समान ही उसे बाहर बैठने का संकेत किया और नाम-स्मरण में निमग्न हो गये। वह नारी बाहर बैठकर हरिनाम सुनती हुई रात भर जागकर हरिदास का इन्तजार करती रही, परन्तु न तो उनका जप पूरा हुआ और न उन्होंने कोई बातें ही कीं। प्रातःकाल होने पर पुनः रामचन्द्र खाँ के पास जाकर उसने अपना दुखड़ा सुनाया और इस कार्य में अपनी असमर्थता जतायी। अत्यन्त ईर्ष्यापरायण रामचन्द्र* इतने पर भी शान्त नहीं हुआ। उस महिला को तरह-तरह के प्रलोभन दिखाकर और कई तरह के उपाय सिखाकर उसे अगले दिन पुनः भेजा। रात होते न होते वह सज-धजकर

* साधु-विद्वेषी रामचन्द्र के जीवन के अन्तिम दिनों में मुसलमान-शासक के कोप के फलस्वरूप उसकी सारी सम्पदा नष्ट हो गयी थी और उसने काफी दुःख-दुर्दशा का भोग किया था।

पुनः हरिदास की कुटिया में जा पहुँची । आज उसने सोच रखा था कि जप के आसन पर हरिदास के बैठने के पूर्व ही वह उसे वशीभूत कर लेगी । उसने तरह-तरह से उनका मन लुभाने का प्रयास किया, परन्तु शान्त समाहित हरिदास का चित्त तिलमात्र भी विचलित नहीं हुआ । उन्होंने अपनी स्वभावसिद्ध मधुर वाणी से उस महिला का मन वशीभूत कर लिया और पूर्व दिनों के समान ही बाहर बैठकर हरि-नाम सुनने का संकेत किया । इस पर वह यन्त्रचालित के समान बाहर जाकर बैठ गयी । इधर हरिदास ने अपने नित्य-नियम के अनुसार आसन पर आसीन हो उच्च स्वर में हरिनाम लेना आरम्भ किया और उधर बाहर बैठकर उस सुमधुर ध्वनि को सुनते-सुनते उस महिला का मन पलटने लगा ।

एक के बाद एक तीन रात यथासाध्य तरह-तरह के प्रयास करके भी जब वह स्त्री हरिदास के मन में कोई विकार पैदा न कर सकी और उधर रात भर जागकर एक आसन पर बैठकर तन्मयता के साथ भगवान् के नाम-जप में हरिदास की अद्भुत निष्ठा को देखा, तो उसके मन में उनके प्रति अगाध श्रद्धा का उदय हुआ । अपने आपको धिक्कारते हुए वह अपने दुष्कर्मों पर खेद और पश्चात्ताप करने लगी । प्रभातकाल में जब हरिदास अपना जप समाप्त कर आसन से उठे, तो व्याकुलतापूर्वक रोते हुए वह उनके चरणों में पड़ गयी और अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगने लगी । साधु हरिदास ने उस पर कृपा की और अपनी मधुर वाणी में उसे सद्भावयुक्त जीवन बिताने तथा हरि-नाम लेने का उपदेश किया । अभागिनी के सौभाग्य का उदय हुआ । उसने अपना पहले का स्वभाव एवं चाल-चलन

त्याग दिया, अपनी धन-सम्पदा दीन-दुखियों में वितरित कर दी और वह स्वयं साधन-भजन में कालयापन करने लगी । उसकी मति-गति में ऐसा अद्‌भुत परिवर्तन देख सभी दंग रह गये और जब खोज करने पर उन्हें सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ तब तो उनके विस्मय की सीमा न रही ।

इस घटना की बात विदित होने पर हरिदास के प्रति लोगों की श्रद्धा खूब बढ़ गयी । अब बहुत से लोग उनका दर्शन करने तथा उपदेश सुनने को आने लगे और इस प्रकार उनके यहाँ भीड़ क्रमशः बढ़ने लगी । इस भीड़भाड़ से अपने साधन-भजन में विघ्न पड़ता देख हरिदास वह स्थान छोड़कर चले गये । उस महिला ने अपन जीवन का अवशिष्ट काल उनके द्वारा परित्यक्त उस कुटिया में ही निवास करते हुए कठोर साधना में बिताया था ।

वह स्थान छोड़ने के बाद हरिदास परिव्राजक के समान भ्रमण करते हुए जीवन बिताने लगे, परन्तु 'तीन लाख हरिनाम-कीर्तन' तथा उस अद्‌भुत भजन के प्रति उनकी निष्ठा नहीं छूती । उन दिनों देश में सच्चे साधु-महात्माओं का दर्शन बड़ा दुर्लभ था । लोग भी ऐसे व्यक्ति का आदर-सत्कार करना नहीं जानते थे । सभी शक्ति-सम्पदा, ऐहिक सुख-भोग और मान-प्रतिष्ठा पाने को लालायित थे । भगवान् का चिन्तन, जप-ध्यान तथा निष्काम प्रेम-भक्तिपूर्वक उनकी उपासना लोगों को विस्मृत हो गयी थी, अतः हरिदास की महिमा को भला कौन समझता ? विविध स्थानों का भ्रमण करते हुए कुछ काल बाद वे शान्तिपुर जा पहुँचे और वहाँ गंगातट पर अनुकूल और मनोरम स्थान पाकर वहीं आसन जमा लिया तथा अपने भाव में डूबकर भजन करने लगे । उन दिनों अद्वैताचार्य

शान्तिपुर में ही निवास कर रहे थे। हरिदास को देख उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने हरिदास से स्थायी रूप से शान्तिपुर में रह जाने का अनुरोध किया और गंगा के किनारे एक निर्जन स्थान में उनके भजन के लिए उपयुक्त एक गुफा बनवा दी। आचार्य ने ही हरिदास के अन्न-वस्त्र का भी प्रबन्ध कर दिया। भक्तिमान् आचार्य को पाकर हरिदास भी बड़े आनन्दित हुए। आचार्य के साथ भगवच्चर्चा तथा भगवद्भजन में तृप्तिलाभ करते हुए वे परमानन्द-पूर्वक गंगातट पर निवास करने लगे। हरिदास के प्रति आचार्य अतिशय श्रद्धा-भक्ति करते। यहाँ तक कि स्वयं निष्ठावान् ब्राह्मण होकर भी अपने पिता की पुण्यतिथि पर वार्षिक श्राद्ध का भोजन हरिदास को खिलाकर परम सन्तोष का अनुभव करते। दीनता की प्रतिमूर्ति हरिदास वह भोजन स्वीकार करने में संकोच करते, परन्तु आचार्य के हार्दिक अनुरोध एवं आग्रह को टाल पाने में अपने आपको असमर्थ पाते। तेजस्वी आचार्य प्रचलित प्रथा एवं सामाजिक विधि की उपेक्षा करते हुए शास्त्र के वास्तविक मर्म के अनुसार 'ब्राह्मणसुलभ गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही यथार्थ ब्राह्मण है' ऐसा मानते थे। 'नदिया के निमाई' की महिमा, भाव-भक्ति और कीर्तन की बात क्रमशः हरिदास के भी कानों में पड़ी। आचार्य के मुख से निमाई के बारे में जानकारी पाकर हरिदास उनकी ओर विशेष आकृष्ट हुए और नदिया में आकर उनसे भेंट की। हरिदास को पाकर निमाई के आनन्द की धारा में मानो बाढ़ आ गयी।

श्रीमत् नित्यानन्द का जन्म वीरभूम जिले के एकचक्रा ग्राम में हुआ था। वे ब्राह्मणकुलोत्पन्न थे—पिता का नाम

मुकुन्द ओझा* और माता का नाम पद्मावती था। उनका पूर्वाश्रम का नाम कुबेर था। कहते हैं कि जब वे छोटे थे, तभी एक संन्यासी उन्हें उनके माता-पिता से भिक्षा के रूप में माँगकर ले गये थे। सम्भवतः उन संन्यासी ने ही इन्हें 'नित्यानन्द' नाम दिया था। गृहत्याग के पश्चात् साधन-भजन तथा तीर्थों का दर्शन करने के निमित्त उन्होंने समग्र भारतवर्ष का परिभ्रमण किया था। सभी लोग उन्हें अवधूत के रूप में जानते थे। तान्त्रिक संन्यासियों को अवधूत कहा जाता है। वे लोग प्रव्रज्या लेकर यदृच्छा विचरण किया करते हैं, फिर इच्छा हुई तो गृहस्थों के समान विवाह करके बाल-बच्चों के साथ रहकर संसार-धर्म का पालन भी करते हैं। अवधूतश्रेष्ठ नित्यानन्द ने अन्तिम दिनों में चैतन्यदेव की इच्छानुसार पत्नी ग्रहण करके गार्हस्थ्य धर्म का पालन किया था। 'चैतन्य भागवत' आदि ग्रन्थों में विवाह के पूर्व बंगाल में धर्मप्रचार करते समय उनके पोशाक आदि का जो वर्णन है तथा उनके मूल्यवान वस्त्र-अलंकार आदि धारण की जो बात लिखी है, उससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि वे एक तान्त्रिक अवधूत संन्यासी थे। उनकी अवधूत-अवस्था के अवलम्बन, उनके परिव्राजक जीवन के संगी---नीलकण्ठ महादेव (शिवलिंग) और तारायंत्र---अब भी उनके खड़दह के निवास-स्थान में उनके वंशजों द्वारा पूजित हो रहे हैं। फिर एक अन्य श्रेणी के भी त्यागी परिव्राजक हैं, जो ज्ञान की अति उच्च अवस्था में आरूढ़ हो किसी बाह्य वेशभूषा, आहार-विहार तथा रीति-विधान की परवाह न करते हुए बालकवत् सदा परमानन्द में विचरण करते रहते हैं। उन्हें भी अवधूत कहते हैं। योगि-

* उन्हें लोग 'हाड़ाई पण्डित' कहकर पुकारते थे।

श्रेष्ठ दत्तात्रेय ऐसे अवधूतों के शिरोमणि थे । नित्यानन्द भी उसी प्रकार के उच्चकोटि के महात्मा थे, अतः दत्तात्रेय के समान ही उनका भी अवधूत के नाम से परिचित होने में कोई विचित्रता नहीं है ।*

तीर्थ-भ्रमण के दिनों में निमाई के बड़े भाई विश्वरूप के साथ नित्यानन्द की भेंट हुई थी । किसी दशनामी संन्यासी से संन्यास-ग्रहण करके विश्वरूप उन दिनों स्वामी शंकरारण्य के नाम से जाने जाते थे । आयु और स्वभाव में साम्य होने के कारण दोनों के बीच बड़ी प्रीति का सम्बन्ध जुड़ गया था । उन्हीं दिनों नित्यानन्द ने शंकरारण्य के पूर्वाश्रम का नाम-पता तथा माता-पिता-भाई के बारे में सब कुछ जान लिया था । भ्रमण करते हुए जब वे बंगाल में आये, तो उन्हें अपने मित्र के पूर्वाश्रम तथा परिवार की याद आयी और मन में उन्हें देखने की इच्छा जगी । नित्यानन्द के नवद्वीप पधारने पर श्रीवासाचार्य से उनकी भेंट हुई, जो अत्यन्त स्नेहपूर्वक उन्हें अपने घर ले गये । नित्यानन्द की अति उच्च अवस्था देख श्रीवास के मन में बड़ा आनन्द हुआ । वे अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी सेवा-परिचर्या करने लगे । श्रीवास की पत्नी मालिनीदेवी भी परम भक्तिमती थीं। नित्यानन्द का बालकवत् स्वभाव देख वे आनन्दित हुई तथा अपनी सन्तान के समान उनकी सस्नेह सेवा करने लगीं ।

नित्यानन्द के नवद्वीप आने के कुछ काल पूर्व से ही

* "यो विलङ्घ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते ॥"
"अक्षरत्वात् वरेण्यत्वात् धूतसंसारबन्धनात् ।
तत्त्वमस्यर्थसिद्धत्वादवधूतोऽभिधीयते ॥"

निमाई ने उस अंचल में हरिनाम-संकीर्तन का प्रबल आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। नवद्वीप पहुँचने के पूर्व ही यह बात नित्यानन्द के सुनने में आ गयी थी*—और अब उनका साक्षात् परिचय हुआ। प्रेमानन्द में मत्त निताई निमाई से मिले। दोनों ने ही परम स्नेहपूर्वक एक दूसरे को स्वीकार किया, दोनों के प्राणों में आनन्दसिन्धु उमड़ने लगा; भक्तों के भी उल्लास की सीमा न रही। नित्यानन्द ने शचीदेवी के दर्शन किये और माता कहकर उनकी चरण-वन्दना की। विश्वरूप के साथ नित्यानन्द का सादृश्य देख तथा उनसे विश्वरूप का समाचार पा शचीदेवी उन्हें विश्वरूप के समान ही अपना पुत्र मानकर स्नेह दर्शाने लगीं। निमाई भी उन्हें अपने बड़े भाई के समान मानने लगे। शचीदेवी उन्हें 'निताई' कहकर सम्बोधित करतीं और बाद में वे इसी नाम से सुपरिचित हुए। अब से शचीदेवी के घर में निमाई-निताई को लेकर भक्तों का आनन्द-मेला शुरू हो गया। निमाई की देखभाल और विशेषकर कीर्तन के समय उनकी अंगरक्षा का भार निताई को सौंप शचीदेवी कुछ निश्चिन्त हुईं। निताई छाया के समान सदैव निमाई के साथ लगे रहते। भावावेश के समय निमाई कहीं भूमि पर न गिर पड़ें इसलिए संकीर्तन के समय निताई उनके पीछे खड़े रहकर सावधानीपूर्वक दोनों हाथ बढ़ाये रहते थे।

शचीदेवी के घर में अब नित्य महोत्सव होने लगा। भगवच्चर्चा, सेवा-पूजा, पाठ-कीर्तन लगा ही रहता था। चारों ओर से लोगों का आगमन होने लगा, भक्तों की संख्या में वृद्धि होने लगी। कितने लोग कितने प्रकार की चीजें ले आते। रघुनाथ की कृपा से किसी भी तरह का अभाव न

* कहते हैं कि यह बात उन्हें वाराणसी में ही ज्ञात हो गयी थी।

रहा। अपने पति की इच्छा तथा सास के निर्देशानुसार विष्णुप्रिया देवी भी अन्य भक्त-महिलाओं के साथ मिलकर भोजन पकाने तथा अन्य प्रकार से भी सब लोगों को सुविधा प्रदान करने में लग गयीं।

निमाई प्रतिदिन रात को भक्तों के साथ मिलकर भगवत्प्रसंग एवं भजन-कीर्तन में काफी समय बिताया करते थे। कहीं बहिर्मुखी लोग आकर इस भक्तसभा के भाव में व्यवधान न डालें, इस निमित्त वे लोग सावधानीपूर्वक बाहर के लोगों को उस सभा में प्रवेश नहीं करने देते थे। उनका यह अनुष्ठान गोपनीयतापूर्वक चला करता था। श्रीवासाचार्य के घर में अतीव निर्जनता देख कुछ काल बाद निमाई ने भजन के लिए वही स्थान सुनिश्चित किया और हर रात अन्तरंग भक्तों के संग श्रीवास के आँगन में जाकर भजन-कीर्तन की माधुरी का उपभोग करने लगे। इसी प्रकार प्रायः पूरे वर्ष भर प्रतिदिन रात को श्रीवास के घर भक्त-मिलन और भजन-कीर्तन हुआ था। इस स्थान पर भक्तों के संग संकीर्तन करते समय निमाई की देह में कितने विचित्र भावों का विकास हुआ था, इसका कोई हिसाब नहीं। विस्मयविमुग्ध भक्तगण उन अलौकिक दृश्यों का अवलोकन कर अपना जीवन धन्य मानते। कभी-कभी निमाई भाव में बाह्यसंज्ञा खो बैठते और उस समय उनका मुखमण्डल एक दिव्य प्रभा से उद्भासित हो उठता, जिसे निरखकर भक्तगण अपना नयन-मन सार्थक कर लेते। परन्तु उनके बाह्यज्ञान का लोप होने पर सगे-सम्बन्धियों के मन में आशंका का उदय होता। तब विशिष्ट भक्तगण, जिस भाव के फलस्वरूप उनका मन अन्तर्मुखी हुआ रहता तदनुरूप भगवन्नाम सुनाते और धीरे-धीरे उनकी बाह्य

चेतना लौटा लाते ।

एक बार आषाढ़ी पूर्णिमा या गुरुपूर्णिमा (भगवान् वेदव्यास की आविर्भाव-तिथि) के उपलक्ष में निमाई की इच्छानुसार श्रीवास के भवन में व्यासपूजा का आयोजन हुआ । संन्यासियों के लिए इस तिथि का विशेष महत्त्व है । निमाई के अतीव आग्रह पर आज संन्यासी नित्यानन्द संन्यासिगुरु व्यासदेव का पूजन करनेवाले हैं ।* श्रीवास के भवन में आज अलौकिक समारोह होगा--पूजा तथा उत्सव की सारी व्यवस्था सुचारु रूप से सम्पन्न हो चुकी है । निमाई-निताई संकीर्तन के आनन्द में मतवाले हो रहे हैं और भाग्यवान् भक्तमण्डली अश्रु-पुलक के साथ भजन-पूजन में डूबी हुई है । शास्त्रविधि के अनुसार सारा कृत्य पूरा करके नित्यानन्द व्यास के ध्यान में निमग्न हुए । चन्दन-चर्चित सुगन्धित पुष्पमाला उनकी अंजलि में है और नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहा है । भावावेश में अचानक निमाई को ही आदिगुरु व्यास मान उन्होंने माला निवेदित कर दी और वे बाह्यसंज्ञा खो बैठे । भाव-विह्वल निमाई के मुख-मण्डल पर दामिनी की-सी आभा फैल गयी और नित्यानन्द के नेत्रों के समक्ष षड्भुजरूप में प्रकट हो क्षण भर में ही उन्होंने एक दिव्य भाव की सृष्टि कर दी । 'चैतन्य भागवत' में यह घटना इस प्रकार वर्णित है--"प्रभु ने कहा, 'नित्यानन्द इस माले से शीघ्र व्यासदेव का पूजन करो।' नित्यानन्द ने देखा कि वे ही तो प्रभु विश्वम्भर हैं, अतः माला उठाकर

* व्यासपूजा के पूर्व भावोन्मत्त नित्यानन्द ने उद्दाम नृत्य करते हुए अपना दण्ड तोड़ डाला था । बाद में निमाई के साथ जाकर उन्होंने उसे गंगाजी में विसर्जित कर दिया था । अवधूतश्रेष्ठ नित्यानन्द का दण्डविसर्जन सम्भवतः इसी प्रकार हुआ था ।

उन्हीं के सिर पर चढ़ा दी । उनके बिखरे बालों के बीच माला बड़ी शोभायमान हुई और विश्वम्भर ने तत्काल षड्भुजरूप धारण कर लिया । उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म, हल और मूसल देख विस्मित निताई भाव-विह्वल हो उठे तथा संज्ञाशून्य हो पृथ्वी पर गिर पड़े ।"

बीच-बीच में निमाई अपने अन्तरंग भक्तों को साथ ले प्रेरणादायी पौराणिक नाटकों का अभिनय किया करते । नाटक के प्रमुख चरित्रों की भूमिका में वे स्वयं ही उतरकर ऐसा अपूर्व अभिनय करते कि देखनेवाले दंग रह जाते । कई बार तो ऐसा भी होता कि अभिनय का वेश धारण किये अपने पुत्र निमाई को शचीदेवी तक न पहचान पातीं । फिर कभी-कभी वे जिस देवी-देवता की भूमिका ग्रहण करते, वे पूर्णरूपेण उसी भाव में आविष्ट हो जाते । इस प्रकार उनमें कृष्ण, राम, नृसिंह, शिव आदि पुरुष-भावों की और कभी-कभी राधा, लक्ष्मी, दुर्गा, आद्याशक्ति आदि प्रकृति-भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती थी ।

एक दिन इसी प्रकार व्रजलीला-अभिनय के समय निमाई व्रज की अधिष्ठात्री-देवी महामाया आद्याशक्ति के भाव में आविष्ट हो, वराभय मुद्रा में भक्तों के सम्मुख खड़े हो गये । अपार स्नेहमयी जगज्जननी का साक्षात् दर्शन कर भक्तों का हृदय अतीव उल्लसित हो उठा । उन लोगों ने भक्तिपूर्वक जगदम्बा के श्रीचरणों में दण्डवत् प्रणाम किया तथा यथाशक्ति पूजा-अर्चना करने के बाद हाथ जोड़कर स्तुति करना प्रारम्भ किया । शास्त्रज्ञ पण्डित भक्तों द्वारा देवीमाहात्म्य का अनुसरण करते हुए भगवती का स्तव करने पर उन्होंने भी अतीव प्रसन्न हो भक्तों को वांछित वर प्रदान किया था । 'चैतन्य भागवत' में लिखा

है (भावार्थ)--

जय जय जगत-जननी महामाया ।
दु:खित जीवों को दीजै चरणों की छाया ।।
जय जय अनन्त ब्रह्माण्ड अधीश्वरी ।
युगे युगे धर्मरक्षा करो अवतरी ।।
ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर तुम्हारी महिमा ।
कह न सके, है फिर उसकी न सीमा ।।
जगत-स्वरूपा तुम्हीं, तुम्हीं सर्वशक्ति ।
तुम्हीं श्रद्धा, दया, लज्जा, तुम्हीं विष्णुभक्ति ।।
तुम्हारी ही मूर्ति सभी जितनी हैं विद्या ।
वेद कहे प्रकृति की शक्ति तुम्हीं आद्या ।।
पूरे ब्रह्माण्ड में तुम्हीं व्याप रहीं माता ।
तुम्हारा स्वरूप कोई नहीं कह पाता ।।
त्रिजगत-हेतु गुणत्रयमयी तुम्हीं ।
ब्रह्मादि भी तुम्हें कभी जान पाते नहीं ।।
सर्वाश्रया सर्व जीवाधार हो तुम्हीं माँ ।
तुम्हीं आद्या अविकारा प्रकृति परमा ।।
जगत-आधार तुम्हीं द्वितीय-रहिता ।
महीरूप तुम्हीं सर्वजीव पालयिता ।।
जलरूपी तुम्हीं सर्वजीवों का जीवन ।
स्मरण तुम्हारा काटे अशेष बन्धन ।।
सज्जनों के घर तुम्हीं लक्ष्मी मूर्तिमती ।
दुर्जनों के घर तुम्हीं कालरूपाकृति ।।
तुम्हीं करती हो सर्व सष्टि स्थिति ।
तुम्हारे भजन बिन त्रिविध दुर्गति ।।
तुम्हीं श्रद्धा वैष्णव की सर्वत्र उदया ।
रक्षा करो माँ, दे मुझे चरणों की छाया ।।

तुम्हारी माया में डूबा सारा संसार ।
तुम न बचाओ माँ तो कौन करे पार ।।
सबके उद्धार हेतु तुम्हारा प्रकाश ।
इस दुःखी जीव को माँ करो निज दास ।।
ब्रह्मादि की वन्द्य तुम्हीं, सबकी हो बुद्धि ।
तुम्हारा स्मरण करे सर्वमन्त्र-सिद्धि ।।

(क्रमशः)

○

तीर्थस्थान में अवश्यमेव प्रेरणा मिलती है । मैं मथुर-बाबू के साथ वृन्दावन गया ।...ज्यों ही मैंने कालिय-दमन घाट को देखा कि मेरे भीतर दिव्य भाव उमड़ पड़ा । मैं पूरी तरह से विह्वल हो उठा । वहाँ हृदय मुझे यों बहलाता था जैसे मैं एक बच्चा होऊँ । गोधूलि के समय मैं यमुना-तट पर टहलते हुए गौओं को चर-कर लौटते हुए देखता । उन गौओं को देखते ही मेरे मन में कृष्ण के विचार जाग उठते । तब मैं पागल के समान दौड़कर चिल्ला उठता, "अहो, कन्हैया कहाँ है ? मेरा कान्हा कहाँ है ?"

—श्रीरामकृष्ण

मानस-रोग (१०।१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। उन्होंने अपना दसवाँ प्रवचन १९८१ ई के विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अन्तर्गत अपनी प्रवचनमाला के प्रथम दिन २४ जनवरी को दिया था। प्रस्तुत लेख उसी का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।——स०)

सुनहु तात अब मानस रोगा।
जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा।।
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।
काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई।।
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना।
ते सब सूल नाम को जाना।।
ममता दादु कंडु इरषाई।
हरष बिषाद गरह बहुताई।।
पर सुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।।
अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दंभ कपट मद मान नेहरुआ।।

तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी ।
त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी ।।
जुग बिधि ज्वर मत्सर अविबेका ।
कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ।। ७।१२०।२८-३७
एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि ।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि ।। ७।१२१ (क)
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान ।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान ।।" (ख)

भगवान् श्री राघवेन्द्र की असीम अनुकम्पा से पुनः इस वर्ष यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि इस पवित्र आश्रम के प्रांगण में एकत्र होकर 'मानस' की कुछ चर्चा की जा सके । प्रति वर्ष श्री विवेकानन्दजी महाराज की जयन्ती के अवसर पर आदरणीय स्वामीजी महाराज मेरा स्मरण करते हैं और इस अवसर पर यहाँ आकर मुझे बड़ा सन्तोष मिलता है, प्रसन्नता मिलती है तथा यहाँ के आध्यात्मिक वातावरण से मैं स्वतः बड़ा प्रभावित होता हूँ । इसलिए कितनी भी कठिनाई क्यों न हो, मैं यही चेष्टा करता हूँ कि यहाँ पर उपस्थित हो सकूँ । आदरणीय स्वामीजी ने इस बार भी स्मरण किया और पुनः हम लोग यहाँ पर एकत्र हुए हैं । प्रसंग के विषय में आप उनके मुख से सुन ही चुके हैं । कई वर्षों से यहाँ सप्त प्रश्नों की चर्चा चलती रही है और उन सप्त प्रश्नों में जो अन्तिम प्रश्न मानस-रोग को लेकर है, उसकी व्याख्या पिछले वर्ष प्रारम्भ हुई थी । वैसे तो मानस-रोगों का प्रसंग कोई बहुत सरस प्रसंग नहीं है; वह भावना-प्रधान न होकर विचार और विश्लेषण-प्रधान है । अतः उसके साथ न्याय करने के लिए कुछ गम्भीर रूप से चर्चा

करने की आवश्यकता होती है । अभी कुछ महीने पहले जब प्रयाग में कथा का आयोजन किया गया था, उसमें जब मैंने प्रसंग के विषय में जिज्ञासा की, तो वहाँ अनुरोध किया गया कि मैं मानस-रोग की व्याख्या करूँ । यह प्रेरणा उन्हें आश्रम के प्रवचनों को टेपरिकार्डर से सुनकर मिली थी । इस प्रकार यही प्रसंग वहाँ भी रखा गया । उन्होंने यह अवश्य कहा कि मैं शायद वहाँ पर विषय को कुछ सरल ढंग से रखने की चेष्टा कर रहा हूँ । अतः उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि रायपुर में जिस स्तर पर इसकी व्याख्या की गयी है, उसी स्तर पर यहाँ भी प्रस्तुति की जाय । अब यह बात इस स्थान के लिए और आप लोगों की आध्यात्मिक वृत्ति के लिए प्रशंसासूचक हो सकती है । अतएव मैं आशा करता हूँ कि यदि विषय कुछ नीरस भी हो, तो भी उसे आप पूरी एकाग्रता से सुनेंगे ।

सारी रामकथा समाप्त करने के बाद अन्त में काक-भुशुण्डिजी गरुड़ से पूछते हैं कि मैंने आपको आपकी जिज्ञासा के उत्तर में रामकथा सुनायी, क्या आप कुछ और भी सुनना चाहते हैं ? और तब जो कुछ होता है, वह बड़ी विचित्र सी बात प्रतीत होती है । वैसे साधारणतया भोजन के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसके अन्त में लोग बहुधा मीठी वस्तु लेते हैं; प्रसिद्ध वाक्य भी है––'मधुरेण समापयेत्' । इस दृष्टि से देखें तो रामकथा से बढ़कर कोई मधुर वस्तु हो ही नहीं सकती । अतः रामकथा से ही यदि 'रामचरितमानस' की समाप्ति हुई होती, तो यही लगता कि 'मधुरेण समापयेत्' की परम्परा की रक्षा करते हुए ही मीठी रामकथा से इसे समाप्त किया गया है । लेकिन ऐसा नहीं है । रामकथा सुनने के बाद भी गरुड़ के मन में कुछ

जिज्ञासा शेष थी, उनमें कुछ जानने की इच्छा थी, और उनकी वही जिज्ञासा सप्त प्रश्नों के रूप में हमारे सामने आती है। इनमें से अन्तिम प्रश्न में उन्होंने मानस-रोग के सन्दर्भ में प्रश्न किया। वे जानना चाहते थे कि मानस-रोगों का स्वरूप क्या है। अब रोग तो कोई ऐसी वस्तु है नहीं, जो किसी को प्रिय लगे। रोगी की स्थिति भी प्रेरक नहीं होती है, वह तो पीड़ा से, अस्वस्थता से कराह रहा होता है। तो गरुड़जी के अनुरोध से काकभुशण्डिजी मानस-रोगों का विश्लेषण तो करते ही हैं, पर उसी से वे रामकथा की समाप्ति नहीं करते, अपितु मानस-रोगों की औषध का भी वर्णन करते हैं और उसके पश्चात् रामकथा समाप्त होती है। इसका तात्पर्य यह है कि रामकथा में अनेक गुण विद्यमान हैं। पर वस्तुतः रामकथा का उद्देश्य क्या है? वैसे तो मनोरंजन की दृष्टि से भी रामकथा कही और सुनी जाती है। अगर अन्य मनोरंजनों के स्थान पर हम रामकथा से मनोरंजन प्राप्त करते हैं, तो यह कोई निन्दा की नहीं, प्रशंसा की ही बात है। गोस्वामीजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि एक विषयी व्यक्ति जब रामकथा को सुनता है तो—

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुनग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ७।५२।४

—उसके कानों को वह बड़ी प्रिय लगती है, उसके मन को सुख प्राप्त होता है। लेकिन रामकथा का उद्देश्य केवल मन तक ही सीमित नहीं है। उसे हम यों कह सकते हैं कि सुनने के मुख्य रूप से तीन माध्यम हैं—मन, बुद्धि और चित्त। फिर संसार में व्यक्ति भी तीन प्रकार के होते हैं—

बिषई साधक सिद्ध सयाने।

त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ।। २।२७६।३

--विषयी, साधक और सिद्ध । विषयी मुख्य रूप से मन के माध्यम से सुनता है । पर साधक केवल मन का ही प्रयोग नहीं करता, अपितु उसके साथ साथ अपनी बुद्धि के माध्यम से रामकथा को ग्रहण करता है । और जो सिद्ध व्यक्ति है, उसके लिए रामकथा केवल मन और बुद्धि का विषय नहीं है, वह तो चित्त से रामकथा के साथ एकाकार होकर, तन्मय होकर, तदाकार होकर साक्षात् कथा का ही रूप बन जाता है । इस तरह कह सकते हैं कि रामकथा विषयी, साधक और सिद्ध के लिए क्रमश: उत्कृष्ट से उत्कृष्टतम रूप में सामने आती है । यदि रामकथा को केवल मनोरंजन के रूप में ग्रहण किया जाय तो व्यक्ति को उससे तत्काल आनन्द की अनुभूति तो होगी, पर उसके जीवन में समस्याओं का समाधान नहीं होगा । अब ऐसी क्षणिक आनन्द की अनुभूति तो जितने मनोरंजन ोते हैं, उन सबमें होती है । उतनी देर के लिए व्यक्ति अन्य बातों को भूलकर मनोरंजन में खो जाता है । पर उस मनोरंजन का वास्तविक लाभ तो तब है, जब वहाँ से उठने के बाद भी व्यक्ति अस्वस्थता का अनुभव न कर अपने आपको स्वस्थ अनुभव करे । तो, यहाँ पर रामकथा की समाप्ति का जो क्रम है, उसमें मन, बुद्धि और चित्त, इन तीनों के स्तर लिये गये हैं । इस क्रम में पहले यह दर्शाया गया है कि व्यक्ति का मन रुग्ण है, अस्वस्थ है । जब कोई व्यक्ति अस्वस्थ होता है, तो उसके घर में कितनी भी समृद्धि और सुविधा क्यों न हो, उसे चैन नहीं मिलता है, इसी प्रकार व्यक्ति बाह्य दृष्टि से चाहे कितना भी उन्नत क्यों न हो, लेकिन यदि वह अन्तर्मन की दृष्टि से अस्वस्थ है,

तो किसी प्रकार से सच्ची शान्ति का, सच्ची समाधि का अनुभव नहीं कर सकता। यही कारण है कि गोस्वामीजी यह सोचकर कि कथा की समाप्ति केवल मनोरंजन से न हो जाय, अन्त में मन के रोगों और उनकी चिकित्सा का वर्णन करते हैं, जिससे हम रामकथा को अपने जीवन से जोड़ सकें और उसके माध्यम से अपनी मानसिक अस्वस्थता को, मानसिक रोगों को दूर कर सकें। इस दृष्टि से मानस-रोग का प्रसंग मधुर न होते हुए भी बड़ा प्रेरक है और मनुष्य के अन्तर्मन का बड़ा अच्छा चित्र उपस्थित करता है। इस पर पिछले वर्ष कथा-प्रसंग चल चुका है।

वैसे तो मैं याद नहीं रख पाता कि पिछले वर्ष विवेचन कहाँ तक हुआ है, पर जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, गोस्वामीजी की इस चौपाई में —

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा ।। ७।१२०।३०

—आये हुए काम और लोभ की व्याख्या की गयी थी। अतः आज से हम क्रोध-पित्त की व्याख्या प्रारम्भ करेंगे। लेकिन इसके पहले मैं इसकी भूमिका की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। इस प्रसंग में एक विलक्षणता है। वह यह कि जितने दुर्गुण हैं, उनकी तुलना किसी न किसी रोग से की गयी है; जैसे कहा गया है कि काम वात है, क्रोध पित्त है, लोभ कफ है, अहंकार डमरुआ है, दम्भ-कपट-मद मान नहरुआ है, तृष्णा उदर-वृद्धि (जलोदर) है तथा मनुष्य के अन्तःकरण में जो तीन प्रकार (पुत्र, धन और मान) की इच्छाएँ हैं, वे तिजारी ज्वर हैं; पर विचित्रता यह है कि इस वर्णन के प्रारम्भ में एक दुर्गुण का नाम तो लिया गया, किन्तु उसकी किसी रोग से

तुलना नहीं की गयी । मानस-रोगों का वर्णन प्रारम्भ करते समय पहली पंक्ति यह आती है—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला ।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ।। ६।१२०।२९

—अर्थात् वह मोह ही है, जो सारे मानस-रोगों के मूल में विद्यमान है । तो, यहाँ पर काकभुशुण्डिजी मोह को ब्याधियों का मूल तो बताते हैं, लेकिन वे अन्तर्मन के इस दुर्गुण से अन्य किसी शारीरिक रोग की तुलना नहीं करते; मात्र यह कहकर वे आगे बढ़ जाते हैं कि यह मोह ही समस्त व्याधियों के मूल में है । अब भले ही गोस्वामीजी ने इस मोह की तुलना शरीर के किसी रोग या दोष से न की हो, पर वे इसकी व्याख्या विविध दृष्टान्तों के माध्यम से करते हैं । रामायण का एक प्रसंग तो मोह की बड़ी ही सांकेतिक व्याख्या करता है, और वह है देवर्षि नारद का प्रसंग । वैसे देवर्षि नारद का जो चरित्र है, उसमें अनेक मानस-रोगों का वर्णन किया गया है, यह भी बताया गया है कि देवर्षि नारद के मन में तीव्र काम का उदय हुआ—

जप तप कछु न होइ तेहि काला ।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला ।। १।१३०।८

ऐसा भी वर्णन आता है कि उनमें तीव्र क्रोध का उदय हो गया—

फरकत अधर कोप मन माहीं । १।१३५।२

फिर यह तो कहा ही गया है कि उनमें काम पर विजय के पश्चात् अहंकार उत्पन्न हो गया था—

जिता काम अहमिति मन माहीं । १।१२६।५

इस प्रकार नारद काम से ग्रस्त हैं, क्रोध से ग्रस्त हैं, लोभ से ग्रस्त हैं, अहंकार से ग्रस्त हैं । लेकिन विचित्रता क्या है ?

इस प्रसंग को रामायण में किस नाम से प्रस्तुत किया गया है ? कहा तो यह भी जा सकता था—

'पुनि नारद कर काम अपारा'

या, 'पुनि नारद कर क्रोध अपारा'

अथवा 'पुनि नारद कर अहं अपारा ।'

पर ऐसा न कह गोस्वामीजी लिखते हैं—

पुनि नारद कर मोह अपारा । ७।६३।८

काकभुशुण्डिजी कथा सुनाते हुए नारद के मोह का वर्णन करते हैं । और ठीक यही शब्द पार्वती और शंकरजी के संवाद में आता है । जब शंकरजी नारद का चरित्र पार्वती को सुनाते हैं, तो वे यह नहीं कहतीं कि नारदजी के मन में अहंकार कैसे आ गया, बल्कि कहती हैं—

मुनि मन मोह आचरज भारी (१।१२३।८)

—देवर्षि नारद के मन में मोह कैसे उत्पन्न हो गया, इसका मुझे बड़ा आश्चर्य है । इस प्रकार इस नारद-प्रसंग को नारद-मोह के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसे यों समझें । शरीर में जितने रोग होते हैं, उनके मूल में किसी न किसी प्रकार का कुपथ्य होता है । अधिकांशतः व्यक्ति यह जानता है कि मुझे यह भोजन नहीं करना चाहिए, इस समय ऐसा करने से मैं रोगग्रस्त हो जाऊँगा । पर जब व्यक्ति उस ज्ञान का अनादर कर उसके प्रतिकूल आचरण करता है, तो अस्वस्थ हो जाता है । तो, जिस वृत्ति के कारण शरीर में रोग उत्पन्न होता है, वह कुपथ्य है तथा कुपथ्य के मूल में जानते हुए भी विपरीत आचरण करने की जो वत्ति है, उसका नाम है मोह । इसीलिए मोह को 'चित्त का विपर्यय' कहा गया है । यही कारण है कि रामायण में मोह को अज्ञान का प्रतीक या पर्यायवाची नहीं माना गया

है । अज्ञान का तो अर्थ है न जानना, पर मोह में ज्ञान के होते हुए भी उसका तिरस्करण है । तो, मोह को समझाने के लिए नारदजी का प्रसंग लिया गया , क्योंकि नारदजी से अधिक जाननेवाला, उनसे बढ़कर आध्यात्मिक सत्य को समझनेवाला और कौन हो सकता था ?

किसी ने मुझसे कहा—नारद को जब अहंकार हो गया, तो भगवान् भाषण दे देते कि अहंकार कितना बुरा है और यह कह देते कि नारद, तुम्हें अहंकार नहीं करना चाहिए । इस पर मैंने कहा—भाई, जो न जाने, उसके सामने भाषण देने में कुछ सार्थकता है । क्या नारद को यह पता नहीं कि अहंकार में कितनी बुराई है ? क्या भगवान् कहेंगे तभी नारद को यह समझ में आएगा कि अहंकार करना बुरा है ? नारद यह सब जानते हैं । इसीलिए भगवान् ने नारद को समझाने की चेष्टा नहीं की, क्योंकि वे जानते हैं कि शंकरजी द्वारा नारद को समझाकर उनके अन्तर्मन की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा की जा चुकी है, पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ । भगवान् विष्णु ने समझ लिया कि केवल वाणी के द्वारा , प्रवचन के द्वारा, विश्लेषण के द्वारा उनके अन्तर्मन की समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता ।

पहली बात देखिए । कोई व्यक्ति यह नहीं चाहता कि मैं बीमार पड़ूँ । प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थता चाहता है । जैसे वह शरीर की स्वस्थता चाहता है, वैसे ही मन की भी । पर चाहते हुए भी वह अस्वस्थ हो जाता है । इसका कारण क्या है ? भगवान् श्रीकृष्ण गीता में एक भिन्न रूप में इसका कारण प्रस्तुत करते हैं । अर्जुन के मन में जिज्ञासा आयी कि जो व्यक्ति बुराई से, पाप से बचना चाहता है, जो

समझता है कि पाप बुरी वस्तु है, त्याज्य है, वह न चाहने पर भी बुराई की दिशा में क्योंकर अग्रसर होता है ? उसे जबरन बुराई की ओर कौन ठेल देता है ?—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय वलादिव नियोजितः ।। ३/३६

इस पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः (३/३७)

—वह मनुष्य के मन में रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला काम है, क्रोध है, जो उसे दुर्गुणों की ओर ले जाता है । 'मानस' में इस प्रश्न का उत्तर एक भिन्न प्रकार से दिया गया है । यहाँ कहा गया है कि काम-क्रोध के भी मूल में व्यक्ति का मोह विद्यमान है । और मोह ऐसा है, जिसे पैदा करने के लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती । 'मानस' में इसे समझाने के लिए एक सार्थक दृष्टान्त दिया गया है । किसान अन्न पैदा करने के लिए खेत को जोतता है, उसमें बीज डालता है और उसकी सिचाई करता है या फिर आकाश से जल बरसता है । किसान अपनी इस क्रिया के द्वारा खेत से अन्न ही लेना चाहता है, पर उसका प्रतिवर्ष का अनुभव यह बताता है कि वह कितना भी बढ़िया खेत क्यों न जोते और उसमें कितने ही उत्तम बीज क्यों न डाले, अन्न के पौधे उगने के साथ-साथ वहाँ घास के भी पौधे उग आते हैं । अब कोई किसान घास की खेती थोड़े ही करता है ? कोई नहीं चाहता कि मेरे खेत में घास पैदा हो । वह तो धान या गेहूँ ही चाहता है । लेकिन विचित्र बात यह है कि जिस जल के द्वारा वांछित अन्न बढ़ता है, उसी जल के द्वारा उस पृथ्वी में अवांछित घास भी बढती है । अन्न तो किसान ने ऊपर से डाला, फिर घास कहाँ से आ गयी ? इसका उत्तर यह है

कि घास पहले से ही पृथ्वी में बीज के रूप में विद्यमान है। यही स्थिति हमारे-आपके अन्त:करण की है। कुछ बीज तो ऐसे हैं, जिन्हें हम और आप इस समय अपने अन्त:करण में डालने की चेष्टा कर रहे हैं। पर कुछ बीज ऐसे हैं, जो पूर्व-पूर्व जन्मों से संस्कार के रूप में विद्यमान हैं। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या करते हैं। वे 'मोह' का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—

मोहजनित मल लाग बि बिध बिधि
कोटिहु जतन न जाई (८२)

—बड़ा यत्न करने पर भी व्यक्ति मोहजनित मल से छूट नहीं पा रहा है। इस पर पूछा गया कि ऐसा क्यों होता है? जब अभ्यास कर रहा है, तब तो छूट जाना चाहिए? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—

जनम जनम अभ्यास-निरत चित,
अधिक अधिक लपटाई (८२)

—जन्म-जन्म के अभ्यास से हमारे अन्त:करण में जो संस्कार बीज के रूप में पहले से ही विद्यमान हैं, उनसे यह मल अधिकाधिक लिपटता ही चला जाता है। जैसे हम और आप सत्संग में जाते हैं और कुछ अच्छी बातें सुनते हैं, अच्छे विचार के बीज मन में डालते हैं। ये बीज अन्त:करण में अच्छे संस्कार के रूप में प्रकट होते हैं। लेकिन इनके साथ ही जन्म-जन्मान्तरों के बुरे विचारों के बीज भी वहाँ छिपे हुए हैं और वे भी अवसर मिलते ही अनजाने में प्रकट हो जाते हैं। धान और घास के पौधे देखने में बिलकुल एक जैसे हरे-हरे दिखाई पड़ते हैं। इसलिए घास निकालनेवाले को यह सावधानी रखनी पड़ती है कि कहीं धान का पौधा न उखड़ जाय और

यह भी कि धान की आड़ में कोई घास का पौधा छिपा न रह जाय। अब यह तो सबसे कठिन कार्य है। 'मानस' में जो 'निराना' शब्द आया है, उसका यही अर्थ होता है। भगवान् राम लक्ष्मण से कहते हैं कि साधक यदि सावधान न हो, तो उसके अन्तःकरण में सद्‌विचारों के बीज के साथ साथ घास-फूस भी अंकुरित हो जाता है। अब यदि किसी खेत में घास बहुत अधिक मात्रा में उपज जाय तो वह खाद और जल का अपनी बढ़त के लिए उपयोग कर धान की जीवनी-शक्ति का ही शोषण कर लेगी। परिणाम यह होगा कि या तो धान उपजेगा ही नहीं या फिर नाम मात्र को उपजेगा, उसकी सारी शक्ति घास को मिल जाएगी। आलसी और निष्क्रिय किसान सोचता है कि कौन इतना परिश्रम करे, पर चतुर किसान घास को निकालने के लिए डट जाता है। वह अपने इस काम के लिए कोई फावड़ा या बड़ा अस्त्र नहीं लेता। वह तो नन्हीं-सी खुरपी लेकर एक-एक पौधे के आस-पास बड़े ध्यान से देखता हुआ घास और धान का भेद करता है तथा घास को काटते चलता है। इसको 'निराना' कहते हैं। भगवान् राम कहते हैं कि लक्ष्मण, इसी प्रकार साधक जब अपने जीवन में सत्कर्म की खेती करता है, तब उसकी बगल में ही पूर्व-पूर्व जन्मों के उसके अन्तःकरण में छिपे हुए संस्कार भी अंकुरित हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में उसकी सावधानी यह होनी चाहिए कि वह बुरे संस्कारों के पौधों को खुरपी से उसी प्रकार निराते हुए चले, जैसे विद्वान् लोग मोह, मद और मान का त्याग कर देते हैं—

> कृषी निरावहिं चतुर किसाना।
> जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ।।४/१४/८

यह मोह, मद, मान ऐसा है, जिसका बीज इस जन्म में न डालने पर भी वह पूर्व-पूर्व जन्मों के संचित संस्कारों के फलस्वरूप अंकुरित होता रहता है । ऐसी परिस्थिति में सजग रहकर देखना पड़ेगा कि जो धान है, वह तो सत्संग के जल से वृद्धिगत हो, पर उसके साथ, उसकी बगल में उगनेवाली घास काट ली जाय । नारदजी के चरित्र में हम देखते हैं कि बीज तो उन्होंने बहुत बढ़िया डाला और खेती हरी-भरी हो गयी । पर उन्होंने जो नहीं उपजाना चाहा था, वह भी उपज आया । किन्तु वे उसे काटने की चेष्टा नहीं करते । तब भगवान् सोचते हैं कि ये तो इतने निष्क्रिय हो गये हैं कि मुझे ही कटाई-निराई करनी पड़ेगी, भले ही इनको कष्ट हो । यही नारदजी के चरित्र की विडम्बना है ।

पुराणों में उनके अगणित जन्मों का प्रसंग आता है । उन्होंने जीवन का अनेक रूपों में अनुभव किया है और वे अनुभव उनके अन्तर्मन में कहीं न कहीं संस्कार के रूप में विद्यमान हैं । हम 'मानस' में पढ़ते हैं कि नारद हिमालय की उपत्यका में जाते हैं और जब वहाँ का वातावरण देखते हैं कि झरना झर रहा है, बड़ी सुन्दर सुशीतल वायु बह रही है, चारों तरफ हरियाली है, तो उन्हें लगता है कि वह भगवान् का ध्यान करने के लिए बड़ा अनुकूल है । वे वहाँ की एक गुहा में बैठकर ध्यान में तल्लीन हो जाते हैं——

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि ।
बह समीप सुरसरी सुहावनि ।।
आश्रम परम पुनीत सुहावा ।
देखि देवरिषि अति मन भावा ।।

निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा।
भयउ रमापति पद अनुरागा ।।१/१२४/१-३

आप यह जानते होंगे कि नारद को दक्षप्रजापति ने शाप दिया था कि तुम दो घड़ी से अधिक कहीं नहीं ठहर पाओगे। ब्रह्मा ने दक्ष को सृष्टि का विस्तार करने की आज्ञा दी थी। दक्ष के पुत्र जब कुछ बड़े होते, तब नारद वहाँ पहुँच जाते और उनको ऐसा सत्संग प्रदान करते कि वे लोग घर-बार छोड़कर वन में चले जाते थे। दक्ष ने जब देखा कि यह तो बार-बार मेरी चेष्टा विफल कर रहा है, तब एक दिन बिगड़कर नारद से कहा—तुम लड़कों को बिगाड़ते हो, इसलिए तुम्हारा कहीं पर बहुत देर तक रहना बड़ा घातक है, अतएव मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम अधिक देर कहीं ठहर नहीं पाओगे। पर इस शाप से नारद की कोई हानि नहीं हुई, बल्कि लाभ ही हुआ; क्योंकि घूमते रहने से अधिकाधिक लोगों की समस्याओं से उनका परिचय होता गया और वे उनके दुःखों को दूर करने में प्रयत्नशील होते रहे। पर आज उनके अन्तःकरण में अन्तर्मुखता की वृत्ति आ गयी और वे बैठकर ध्यान में लीन हो गये। फलस्वरूप प्रजापति का शाप व्यर्थ चला गया, क्योंकि शाप तो तब कार्य करता, जब नारद देह और काल की सीमा में होते। वे तो ध्यान में बैठकर देश-काल और व्यक्तित्व की सीमा से ऊपर उठ गये थे। इसका अर्थ यह है कि यदि ध्यान में बैठने पर भी यह याद बनी रहे कि मैं कहाँ बैठा हुआ हूँ, कितना समय हुआ है, मैं कौन हूँ, तो समझ लेना चाहिए कि ध्यान बिलकुल अधूरा है। उदाहरणार्थ, जब यह कहते हैं कि ध्यान कीजिए कि अयोध्या नगर में सरयू बह रही हैं, सरयूजी के किनारे एक कल्पतरु है, कल्पतरु के नीचे एक

सिंहासन है और उस सिंहासन पर भगवान् राम और सीता बैठे हुए हैं, तब यदि व्यक्ति देश के प्रति सजग होगा, तो उसे लगेगा कि नहीं, मैं तो इस शहर में ही बैठा हुआ हूँ। वह अयोध्या या वृन्दावन या उस देश की भावना नहीं कर पाएगा, जहाँ का वह ध्यान करना चाहता है। फलस्वरूप उसमें तन्मयता नहीं आ पाएगी। इसी प्रकार जब काल का चिन्तन करेगा, तब भी उसे दूरी की अनुभूति होगी। उसे लगेगा कि भगवान् का अवतार तो कितना पहले हुआ था, अतः हमारे और उनके काल में बड़ी दूरी है। अब राम भला कहाँ हैं, कृष्ण कहाँ हैं! इसका परिणाम यह होगा कि उसको सच्चा ध्यान नहीं लग पाएगा। इसी प्रकार सच्चे ध्यान के लिए व्यक्तित्व की सीमा को भी लाँघना पड़ता है। जैसे भगवान् का ध्यान करता हुआ व्यक्ति अपने आपको कुछ न कुछ करता हुआ पाता है। भक्त ध्यान करता हुआ देखता है कि वह माला गूँथकर भगवान् को पहना रहा है। अब वह अपने आपको जिस शरीर से माला पहनाता हुआ देखता है, वह स्थूल शरीर तो है नहीं, वह तो उसका भावनात्मक शरीर है। ऐसी स्थिति में अगर उसका स्थूल शरीर ही उसके चिन्तन में आता रहा, तो वह सच्ची तन्मयता प्राप्त नहीं कर सकेगा। नारद ने देश, काल और व्यक्तित्व, इन तीनों से मुक्ति प्राप्त कर ली। फलस्वरूप दक्षप्रजापति ने उन्हें जो शाप दिया था, उसका कोई अर्थ नहीं रहा, क्योंकि वे न तो किसी स्थान में बैठे थे, न किसी काल में थे और न व्यक्तित्व की ही सीमा में थे। वे पूरी तरह दिव्य मनःस्थिति में थे। लेकिन स्वर्ग में बैठे हुए इन्द्र के मन में भय पैदा हो गया कि नारद कहीं स्वर्ग पर अधिकार करने के लिए तो तपस्या नहीं कर रहे हैं। और

वह ऐसा सोच उनकी तपस्या भंग करने की चेष्टा में लग जाता है।

यहाँ पर गोस्वामीजी एक बड़े महत्त्व की मनोवैज्ञानिक बात बताते हैं। वैसे लगता तो यही है कि दुर्गुणों की ओर से व्यक्ति के जीवन में बाधा आती है, लेकिन कभी-कभी ऐसा भी दिखाई देता है कि दुर्गुण और सद्गुण मिलकर साधक के जीवन में बाधा की सृष्टि कर रहे हैं। नारद के जीवन में इसी दूसरे तथ्य की ओर संकेत किया गया है। नारद की तपस्या को भंग करने की वृत्ति किसी राक्षस या दैत्य के मन में नहीं आती, वह आती है इन्द्र के मन में। और इन्द्र कौन है? सबसे बड़ा पुण्यात्मा। सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला ही इन्द्र का पद प्राप्त करता है, । तो, ऐसा इन्द्र जो स्वयं सत्कर्म करनेवाला है, जब दूसरे को सत्कर्म से विरत करने की चेष्टा करता है, तब यह बात बड़ी अटपटी-सी मालूम पड़ती है। पर यही समाज का सत्य है और जीवन का भी। अच्छे काम में बाधा केवल बुरे लोग ही नहीं डालते, कभी-कभी अच्छे लोग भी डालते हैं। यह तब होता है, जब उनके मन में ईर्षा उत्पन्न होती है कि कहीं वह मुझसे बढ़िया काम न कर दे। अच्छा कहलानेवाले ऐसे ईर्षालु व्यक्ति भोगपरायण होते हैं। वे सत्कर्म के बदले कुछ पाना चाहते हैं। उनके मन में यही चिन्ता रहती है कि बँटवारे में सब मुझे ही मिले, दूसरों को कुछ न मिल पाए।

तुलसीदासजी से किसी ने पूछ दिया कि स्वर्ग में जाकर मनुष्य तो दुर्गुणों से मुक्त हो जाता होगा? उत्तर में गोस्वामीजी ने व्यंग्य करते हुए कहा—और दुर्गुण चाहे कम हो जाएँ, पर वहाँ जाकर एक दुर्गुण बढ़ जाता है और वह है ईर्षा। वे 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं—'स्वर्गहु मिटइ

न सावत'—स्वर्ग में सौतियाडाह नहीं मिटता, ईर्षा नहीं मिटती। अब नारद हैं त्यागी और इन्द्र है भोगी। और विचित्रता यह है कि त्याग और भोग दोनों ही पुण्य के फल हैं। पुण्य से व्यक्ति को भोग भी प्राप्त हो सकता है और वैराग्य भी। चुनाव तो व्यक्ति को करना है। देवर्षि नारद तो पुण्य के द्वारा वैराग्य पाने के पक्ष में हैं, पर इन्द्र के मन में भय उत्पन्न होता है कि कहीं ये मेरे स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही तो तपस्या नहीं कर रहे हैं। इन्द्र अपने मापदण्ड से नारदजी को नापता है। उसे लगता है है कि हमने इतना सत्कर्म करके स्वर्ग प्राप्त किया, नारद भी निश्चय ही स्वर्ग पाने के लिए ही तपस्या कर रहे होंगे। और तब यहाँ पर दुर्गुण के साथ देवता का एक अनोखा समझौता हो जाता है। इन्द्र काम को बुलाकर कहता है—

सहित सहाय जाहु मम हेतू। (१/१२४/६)

—तुम अपने सहायकों सहित जाओ और नारद को ध्यान से विरत करने की चेष्टा करो। (क्रमशः)

O

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

डा० पुरुषोत्तम शर्मा
(१११/२७९ हर्षनगर, कानपुर-२०८ ०१२)

आया भयंकर प्रभंजन
विज्ञान और तर्क बुद्धि का
पश्चिम दिशा से--
बुझाने धर्म-अध्यात्म
के सुकुमार दीपक को,
युगों से की गयी संचित
संस्कृति के उन्मूलन की
चुनौती सी लिये हुए ।
अवतारों, सिद्ध-साधकों
का दीर्घ काल व्यापी कार्य
क्या यों सहसा समाप्त
निःशेष हो जाएगा ?
क्या दिव्य शक्ति अपना
पराभव असहाय देखेगी
निष्क्रिय बनी रहकर ?
बंगाल के न सुने गये
कामारपुकुर गाँव में
चमक उठी वह किरण
जो आर-पार भेद सके
अन्धकार निबिड़ को ।

क्या नाम दें उस शक्ति को
जो विष्णु बनकर आयी
पिता को दर्शन देने
और निकली शिव-मन्दिर से
माता में प्रवेश करने ?

गदाधर कहा उसे
किन्तु प्रसिद्ध जो अभिधान
हुआ वह रामकृष्ण था ।

जो शक्ति जन्मी थी
त्रेता में अयोध्या में
या द्वापर में मथुरा में
वह आ गयी पुनः
समवेत रूप से
श्री रामकृष्ण बन कर ।

शिक्षा करेगी क्या
उस आत्मा का
आलोकित जो सहज प्रकाश से ?
ज्ञान-गर्व से दुर्विदग्ध
ग्रन्थ भाण्डार को मुखाग्र किये
सर्व-विषय-वेत्ताओं को
विनय का पाठ पढ़ाने
आये प्रभु आवरण धारण कर
निरक्षता का,
उन्मीलित करने नेत्र उनके
जो पुस्तकों के दम्भ में चूर थे ।

सकल सम्पदा जिनके अभ्यन्तर में
बाह्य साधनों का कैसा अवलम्ब उन्हें ?
मर्म पर सुस्थिर दृष्टि जिनकी
शब्दाडम्बर भला वे कैसे सहें ?
आये रामकृष्ण, नास्तिकता का दुर्ग हिला
बिना प्रवचनों के सुसज्जित मंच से ।

वे तो बात करते थे
अनघड़ अटपटी बोली में
हृदय से जो निकल कर
सीधी जाती थी अन्तस् में जन के ।
बिना बोले हुए जो सर पर छा जाये
मन-प्राणों में समाये
वही जादू है ।
दक्षिणेश्वर ऐसे ही इन्द्रजाल का
रंग-स्थल था ।
केशव चन्द्र सेन बंग प्रान्त की
अप्रतिम प्रतिभा थे,
वक्तृत्व ऐसा. वाणी का चमत्कार,
मानो सम्मोहन मंत्र फूँक दिया,
वही केशव प्रत्येक शब्द
रामकृष्ण के श्रीमुख से निकले हुए पर
तल्लीन बैठते समाधिस्थ से होकर ।
कहाँ स्रोत था उनके
इस अनिर्वच जादू का
कोई बात ऐसी थी
उनके परम मनोरम व्यक्तित्व में
उनके मुखारविन्द में
उनके अलौकिक तेज से दीप्त नयनों में
उनकी मन्द मधुर मुस्कान में
उनके अवयवों की थिरकन में
उनके हाथों के संचालन में
उनके अटपटे पड़ते हुए चरणों में
उनकी चेष्टा में, भाव-भंगिमा में

उनकी अतीन्द्रियता में
उनकी भाव-मुख होने की विचित्र चितवन में
जो बन्दी बना लेती थी
जन्म-जन्मान्तर के लिए
दर्शनार्थियों-आगन्तुकों के हृदयों को ?

क्यों उतरे रामकृष्ण
उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ?
गीताकार ने बताया कि अवतार आता है
धर्म-संस्थापन के लिए ।
समय आ गया था धर्म-ग्लानि का
वितण्डा के बल पर
अनीश्वरवाद अपनी दुन्दुभि बजा रहा था
अपने सद्य: अर्जित ज्ञान के अभिमान में
युवा वर्ग उपहास कर रहा था
अर्न्तविरोधों की दरारों से
हो रही थीं जर्जरित दीवारें
भारतीय धर्म और संस्कृति की ।
बाट अधिक नहीं जोही जा सकती थी
समय हो गया था उपयुक्त
नारायण का नर बन कर आने का

प्रज्ञा से अतीव विचक्षण
विषय-वस्तु के विश्लेषण-
मीमांसा में परम दक्ष
भटक रहे थे नरेन ढूंढ़ते
परमेश्वर को
जैसे मृग जल को मरु में
आये पास रामकृष्ण के

और लगे पूछने :
"क्या देखा है ईश्वर को ?"
"हाँ देखा है," कहा उन्होंने,
"और अभी भी देख रहा हूँ
वैसे ही जैसे तुमको--
ठीक सामने अपने खड़े हुए ।
और तुम्हें भी दिखला सकता हूँ ।"
जैसे ही छू लिया हाथ से
कन्धा नरेन का
वह घिर गये प्रकाश की लहरों से
खोकर अपनी सारी सुध-बुध ।

रामकृष्ण का जीवन ही
था उनका सन्देश
जो उपदेश दूसरों को देते
स्वयं प्रथम उस पर आचरण
सदा करते
इसीलिए उनके थोड़े शब्दों में
हृत्परिवर्तन की क्षमता होती थी ।
भिन्न-भिन्न मार्गों की भाँति
सभी धर्मों का लक्ष्य एक है
अपनी रुचि से करो अनुगमन
किसी एक का
पहुँचोगे गन्तव्य स्थल पर
यह उद्बोधन दिया तभी लोगों को]
जब पूरी की चर्या
कई दिनों तक
श्रद्धा - निष्ठा से

मुसलमान की
तहमद बाँध नमाज पाँच
प्रतिदिन करके ।
इसी भाँति ईसा मसीह को
आत्मसात् सर्वात्मना किया ।

नहीं कभी मिल सकता
प्रभु का दर्श
साधारण यांचा से
क्षुद्र पुरस्कार भी
तभी मिलते जब हम मूल्य चुकाते ।
निकली काली माँ प्रतिमा में से
जब रामकृष्ण ने
अपनी ग्रीवा पर प्रहार करने
मन्दिर की खड्ग उठायी ।

अर्चन के उपरान्त
जब देते नैवेद्य माँ को
मनुहार करते से
अपने मुख में विभोर हो
रख लेते, कहते, लो
अब तो, हे जननि, ग्रहण करो ।

मूर्ति-पूजन
ब्रह्म-चिन्तन
में नहीं कोई भी अन्तर ।
विश्व के कण-कण में
उसी का स्पन्दन
मन्दिर की प्रस्तर मूर्ति

सजीव इतनी उनके लिए
कि रोमांचित गात्र
अश्रुपूर्ण लोचनों
भावविह्वल कण्ठ से
आराधना करते
और समाधिस्थ हो जाते ।
व्यक्ति शरीर नहीं
वह तो आत्मन् है
यह सत्य उद्घाटित
वे प्रतिदिन करते थे,
भाव-समाधि में सहसा
चले जाते—
तृषा-बुभुक्षा से एकदम अतीत ।
सोपान से उतरते
सामान्य भूमि पर
लाभान्वित करते अन्यों को
अपनी अनुभूति से ।
वैयक्तिक मुक्ति की
आकांक्षा पर अंकुश
लगाओ और सेवा-कार्य करो
यह शिक्षा उनकी थी ।
भूखे-नंगों को वे देख न पाते थे ।
आर्त जनों में देखो ब्रह्म सत्ता ।
उनको दया भला तुम क्या दे सकते हो ?
वे उद्भूत उसी स्फुलिंग से
जिसके तुम अंश हो ।
जो अस्पृश्य समझे जाते

प्रभु के अवतंस वे
उनके बन्धु आत्मीय
श्री परमहंस थे ।
इच्छा जगी मन में
मलिन गृह में जाने की
अपने श्रम द्वारा
कुछ स्वच्छता लाने की ।
ठाकुर को भला वे
यह कैसे करने देते ?
क्या वे नहीं थे पूज्य
विप्रश्रेष्ठ सब जन के ?
जब सो गये वे सब
रात्रि की क्रोड़ में
तब रामकृष्ण चल दिये
मनोरथ पूरा करने
अपने लम्बे केशों से
घिस-घिस गन्दे स्थानों को
चमकाया, कैसा चमत्कार !
कोई बताये किस युग में
जब आया ऐसा करुणावतार ?
श्री कृष्ण ने पुरा काल में
युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ पर
पाद-प्रक्षालन किया अतिथियों का
वे रामकृष्ण रूप में
और आगे बढ़ गये
अपने कुन्तलों से
दरिद्रों को सँवारा,

अभिषेक किया उनका
अपने अभिन्न अंग का ।
कब शक्ति उन्होंने
अपने लिए बचायी ?
वह वृक्ष कौन सा है
जो अपना फल खाये,
प्रत्येक नदी चाहती
कि उसका जल
सुदूर तटों तक जाये ।
श्री रामकृष्ण की वाणी
रोगाक्रान्त कण्ठ से
भक्त-शिष्यों के लिए
निकलती रहती अविराम,
मृत्यु की छाया तले भी
मुख-छवि थी अक्लान्त अभिराम ।
कौन सी वह व्याधि
जिसका शमन वे सकते नहीं कर ?
दृष्टि जिन पर पड़ जाये उनकी
पाद-कर का मिल जाये पुण्य स्पर्श जिनको
वे मृत्यु-विजयी ही नहीं
भवसागर पारगामी बनते सत्वर ।
अपने मुख से नहीं सही
कितने मुखों से वे खाते थे ।
काली माँ का दर्शन
कितने ही भावुक जन
श्री रामकृष्ण में ही पाते थे ।
भक्ति, ज्ञान, कर्म के

श्री रामकृष्ण हैं संगम
पार्थिव आकार धर कर
प्रकट निरंजन ब्रह्म
ज्योतित करने स्थावर-जंगम ।
लौकिक बन्धनों से मत खोजो पलायन
सीमाबद्ध कक्ष में खोलो एक वातायन
जिससे जुड़ सको तुम विस्तृत बृहदाकाश से
जैसे जनक थे नितकर्म रत मुक्त सारे बन्धपाश से ।

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) ज्ञान को भूषण ध्यान है

महाराष्ट्र-सन्त रामदासजी का बचपन का नाम नारायण था। वे बड़े ही उद्दण्ड थे। वे दोस्तों के साथ जब जंगल की ओर खेलने निकल जाते, तो वहीं रम जाते। एक दिन उनके घर में कोई उत्सव था। माता राणूबाई को कढी बनाने के लिए छाँछ की आवश्यकता हुई, तो उन्होंने बालक नारायण से कहा, "कल छाँछ लगेगा, पड़ोसी से माँगकर ले आना।" मगर जब उसके निठल्लूपन की ओर माँ का ध्यान गया, तो बोलीं, "मगर तुझे यह काम बताने से क्या फायदा ? तुझे तो खेलने के अलावा कुछ सूझता ही नहीं है।" ये शब्द सुन उन्हें गुस्सा आ गया। वे कुम्हार के घर गये और ग्यारह मटके माँगकर हर पड़ोसी को एक-एक देते हुए उन्होंने कहा, "कल माँ ने सुबह इसमें छाँछ माँगा है।" पड़ोसियों के घर में गायें होने के कारण दूध का खूब छाँछ बनता था। उन्होंने सुबह आने को कहा। बालक नारायण तड़के ही उठा और उन सारे मटकों में छाँछ लाकर उसने रसोईघर में चुपचाप रख दिया।

नींद खुलने पर माता ने जब ग्यारह मटके छाँछ देखा, तो चकित रह गयीं। उन्होंने पति से छाँछ के बारे में पूछा, तो उन्होंने अनभिज्ञता व्यक्त की। बड़े पुत्र और बहू को भी कुछ मालूम न था। वें लोग समझ गये कि सारी करामात नारायण की है। माता ने नारायण को डाँटते हुए कहा, "तेरी उद्दण्डता कब जाएगी ? यदि जिन्दगी भर ऐसा ही रहा, तो बस हो चुकी तेरी गृहस्थी ! न मालूम तुझे अक्ल कब आएगी !"

बस, माता के ये शब्द बालक के अन्तर्मन को चुभ

गये । वह चुपचाप कमरे में चला गया और दरवाजा बन्द कर एक कोने में आँख बन्द कर भगवान् का ध्यान करने लगा । बहुत देर तक बालक नारायण के दिखाई न देने पर सबको चिन्ता हुई और वे उसे खोजने में लग गये । इतने में किसी चीज के लिए जब माता उस कमरे में गयीं तो उन्होंने पुत्र को आँख बन्द किये ध्यान में मग्न देखा । उन्होंने डाँटते हुए पूछा, "नारोबा, अँधेरे में क्या कर रहा है ?" बालक ने उत्तर दिया, "आई, मैं विश्व की चिन्ता कर रहा हूँ !" माँ ने गम्भीरता से पति को वह बात बतायी । उन्होंने उससे डाँट-डपट न करने की सलाह दी और कहा कि बड़ा होने पर आप ही आप इसमें समझदारी आ जाएगी । लेकिन होनी को कौन टाल सकता है ? अब तो बालक नारायण जब-तब आँख बन्द किये ध्यान करने लगा । और बड़ा होने पर सचमुच ही उसने विश्व की चिन्ता दूर करने में स्वयं को लगा दिया ।

(२) जिन खोजा तिन पाइयाँ

बालक शेख फरीद को जब पढ़-लिख सकने का ज्ञान आया, तो माता ने उसे रोज नमाज पढ़ने के लिए कहा । नमाज पढ़ने के बाद जब वह कपड़ा उठाता तो उसे नीचे मिठाई दिखाई देती । वह खा लेता और खुश हो जाता । बात यह थी कि माँ कपड़े के नीचे पहले ही मिठाई रख देती थी, लेकिन फरीद यह समझता था कि अल्लाह ही उसे नमाज पढ़ने के बदले मिठाई देते हैं ।

एक दिन उसने माता से पूछा, "अम्मा ! क्या मुझे अल्लाह नहीं मिल सकते ?" "क्यों नहीं," माँ ने कहा, "मगर तुझे इसके लिए दूर जाना होगा ।" और बालक अल्लाह की खोज में निकल पड़ा और अल्लाह का नाम

जपते हुए उनका इन्तजार करता रहा। इस दौरान उसने भोजन तो नहीं किया, बस पेड़ों के पत्ते चबा-चबाकर खा जाता। जब खुदा का दीदार नहीं हुआ, तो वह वापस घर आया और उसने माँ से शिकायत की कि अल्लाह तो उसे मिले ही नहीं। माँ ने जब उससे सारी हकीकत पूछी, तो बोली, "अल्लाह तुम्हें मिलेंगे कैसे ? तुम्हारा जी पत्तों से पेट भरने में लगा रहता था। तुम जिन पेड़ों के पत्ते तोड़ते थे, क्या इससे उन पेड़ों को दर्द नहीं होता रहा होगा ? अगर तुम सचमुच अल्लाह को पाना चाहते हो, तो तुम्हें लकड़ी की रोटियाँ दूँगी। भूख लगने पर वे तुम्हारे दिल को समझाया करेंगी।"

फरीद माँ की दी हुई लकड़ी की रोटियाँ लेकर फिर जंगल की ओर निकल पड़ा। काफी अरसे के बाद भी जब अल्लाह नहीं मिले, तो घर वापस आ गया। माँ से फिर शिकायत की, तो माँ बोली, "बेटा, तू अल्लाह का नाम लेता तो था, मगर भूख लगने पर यह सोचता था कि रोटियाँ पेट में बँधी हैं, अब खा लूँगा, तब खा लूंगा। अरे, जिसका दिल रोटियों में लगा रहता है, अल्लाह भला उसे कभी मिल सकते हैं ?"

अब फरीद अपने अरब देश से बहुत दूर निकल आया और वर्धा जिले के गिरर नामक स्थान पर रुक गया। वहाँ एक बड़ा पेड़ था, जिसके नीचे बहुत बड़ा गड्ढा था। वह उस पेड़ पर उल्टा लटक गया और अल्लाह का नाम जपने लगा। अब न उसे भूख की चिन्ता थी, न प्यास की। खुदा की याद में ऐसा डूबा कि अपने शरीर की भी परवाह न रही। आखिर एक दिन आवाज आयी—"ऐ शेख फरीद ! तेरी इबादत कुबूल की गयी है। अब पेड़ से उतर

जा ।" मगर उसे यकीन न हुआ, तो पूछा, "क्या मेरी इच्छा पूरी हो गयी ?" आवाज आयी, "हाँ, तेरी इच्छा पूरी हो गयी । यकीन न आता हो, तो यह कहकर देख ले—'जो खुदा करे, वही हो, और जो शेख फरीद कहे, वही हो' ।"

यह सुनते ही फरीद बोल उठा "नीचेवाला गड्ढा शक्कर से भर जाय ।" उसका वाक्य पूरा हुआ भी न था कि गड्ढा शक्कर से भर गया । फिर क्या था, वह नीचे उतर आया और आनन्द में मगन हो बोल उठा, "मिल गया, मुझे मेरा अल्लाह मिल गया !" वह गिरर में ही रह गया और अल्लाह का नाम जपता रहा । उसकी याद में आज भी वहाँ दरगाह मौजूद है ।

(३) सुलभ सुखद मारग यह होई

भक्तिमार्ग के प्रवर्तक रामानुजाचार्यजी का बचपन का नाम लक्ष्मण था । पिता की मृत्यु के बाद उनकी माता ने उन्हें आचार्य यादवप्रकाशजी के पास भेजा, जिनकी अद्वैत शास्त्र में गहरी आस्था थी । लेकिन लक्ष्मण का मन इस शिक्षा को स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि भक्ति, देवार्चन आदि श्रवण-मनन की अपेक्षा निम्न कोटि के साधन हैं । भगवान् के सच्चिदानन्दघन श्रीविग्रह को मायामय बताना उन्हें सह्य नहीं था । इससे दोनों में वाद होता । और तब मतभेद बढ़ते गये । फिर भी वे गुरु का बराबर सम्मान करते थे ।

एक बार कांची की राजकुमारी को जब ब्रह्मपिशाच पीड़ा देने लगा, तो राजा ने यादवप्रकाशजी को बुलाया, मगर उनके तंत्र-मंत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । तब स्वयं ब्रह्मपिशाच ने उन्हें बताया कि यदि आपका शिष्य लक्ष्मण

कन्या के सिर को अपने चरण से स्पर्श करे, तो वह इस दु:खद योनि से मुक्त हो जाएगा। आचार्य ने जब लक्ष्मण से राजकन्या के मस्तक को चरण-स्पर्श कराया, तो वह स्वस्थ हो गयी। राजा ने गुरु-शिष्य दोनों का सम्मान किया। मगर इससे आचार्य के मन में लक्ष्मण के प्रति ईर्षा हो गयी और उन्होंने इस शिष्य को खत्म करने का निश्चय किया। उन्होंने उनसे काशी-यात्रा पर चलने को कहा। वे लोग यात्रा के लिए निकल पड़े, मगर रास्ते में ही लक्ष्मण को गुरु के षड़्यंत्र का पता चल गया और वे उन्हें छोड़कर जंगल की ओर भाग गये।

भयानक वन में अनजान मार्ग पर चलते हुए लक्ष्मण को बड़ा कष्ट होता था। काँटों-पत्थरों से उनके पैर छिल गये। लेकिन उन्हें यह मार्ग सुखकर ही लगा। सोचते, गुरु की असत्य शिक्षा और छल-कपट की अपेक्षा एकाकी स्थान ही अच्छा। मगर भूख-प्यास और थकावट ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। तब उन्होंने आतुर होकर दीनदयालु भगवान् की कातर स्वर में प्रार्थना की। अचानक उन्हें एक व्याध-दम्पति दिखाई दिये। उन्होंने बताया कि कांची यहाँ से बहुत दूर है, रात को विश्राम करके हम सबेरे उस ओर रवाना होंगे। लक्ष्मण व्याध-दम्पति के साथ वहाँ रुक गये। रात को व्याध-पत्नी को प्यास लगी। सबेरा होने पर लक्ष्मण एक कुएँ पर गये और अंजलि भरकर जल ला-लाकर उन्होंने व्याध-पत्नी को पिलाया। चौथी बार वे कुएँ पर आये और उन्होंने स्थान का नाम पूछा, तो पता चला कि वह कांची नगरी की ही सीमा थी। वे जल लेकर मुकाम पर पहुँचे, तो उन्हें व्याध-दम्पति दिखाई नहीं दिये। घर

आकर उन्होंने माता और मामा को सारा हाल सुनाया। मामा ने बताया कि व्याध-दम्पति साक्षात् लक्ष्मीनारायण थे, जिन्होंने रात्रि को ही उन्हें कांची नगरी पहुँचा दिया था। भगवत्कृपा का अनुभव प्राप्त होने से उनका हृदय भक्ति से पूर्ण हो उठा।

(४) पर पीड़ा सम नहिं अधमाई

शेख मुहम्मद अहमदनगर जिले के श्रीगोंदे तालुका के रुईवाहिरें नामक गाँव के निवासी थे। एक दिन उनके यहाँ कोई उत्सव था। बालक मुहम्मद को उसके पिता ने एक बकरे की कुर्बानी करने की आज्ञा दी। वह जब छुरा लेकर बकरे के पास गया, तो उस अबोध प्राणी का करुण चेहरा देख उसका अन्तःकरण पिघल उठा। उसने तब छुरे से अपनी उँगली काटकर देखी। उँगली लहूलुहान हो उठी और उसे असह्य वेदना होने लगी। वह मन में सोचने लगा, "जब मुझे केवल उँगली कटने से इतना दर्द हो रहा है, तब गर्दन कटने से इस निरीह प्राणी को कितना दर्द न होगा?" उसकी आँखें भर आयीं। उसने छुरा फेंक दिया और जाकर पिता से सारा हाल कह सुनाया। पिता स्वयं मुल्ला थे। उन्होंने बालक के विचार सुने, तो समझ गये कि यह कोई साधारण बालक नहीं है, अतः चुपचाप रह गये। मगर शेख मुहम्मद को तो इस घर में चैन नहीं था। वे घर से निकल पड़े और भक्ति का मंत्र जपते रहे। उन्होंने वैष्णवी भक्ति का मार्ग अपनाया और सन्त तुकाराम तथा जयराम स्वामी से सत्संग करने लगे। वे आगे चलकर 'महाराष्ट्र के कबीर' कहलाये।

○

सन्त कबीर : सामाजिकता के सन्दर्भ में

डा० अशोक प्रभाकर कामत
एम. ए., पीएच.डी (हिन्दी), पीएच.डी. (मराठी)

(मध्ययुग में शासक और शासितों के बीच की दीवार को तोड़ने का प्रयास कुछ सन्त-महात्माओं ने किया। उन्होंने नीति को व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में ऊँचा स्थान देते हुए बाह्याचार तथा व्यक्तिवाद के विरुद्ध नारा बुलन्द किया। सहज साधना, विशुद्ध आचरण पर बल देते हुए सदधर्म का स्वरूप समझाया। समाज का दिशा-निर्देशन किया। सन्त कबीर का ऐसे सन्त-महात्माओं में अपना एक अद्भुत व्यक्तित्व था . . . । लेखक पुणे विद्यापीठ में 'सन्त नामदेव अध्यासन' के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हैं।)

मध्यकालीन सन्त और कबीर

मध्यकालीन सन्त-भक्तों की सुदीर्घ परम्परा हमारे देश की एक अद्भुत निधि है।

मध्यकाल में उत्तर भारत में अनेक विजातीय शासक राज करने लगे थे। इन शासकों के आचार-विचार, भाषा, साहित्य संस्कृति, कला, वेशभूषा और उत्तर भारतीय जनता के परम्परागत संस्कार, रीतिरिवाज, रहन-सहन इन दोनों में काफी अन्तर था। इसके परिणामस्वरूप शासक और शासित जनता के बीच भेद-विभेद की एक ऊँची दीवार खड़ी हुई। इसे तोड़ने के भी कई प्रयत्न हुए। पर समानान्तर रेखाओं की भाँति विजातीय शासक वर्ग और शोषित जनसाधारण ये दो भिन्न धाराएँ प्रबलता से प्रवाहित होती रही। इन्हें मिलाने और एक करने का प्रयास उत्तरी भारत में जिन्होंने किया, उनमें प्रमुख हैं सन्त नामदेव, गुरु नानकदेव और सन्त कबीर।

व्यक्तिवाद, बाह्याचार और संघर्ष

इन महात्माओं के सामने बड़ा ही चुनौतीपूर्ण कार्य

था । विजातीय शासकों के संकट के साथ ही साथ स्वजातीय संकट भी विद्यमान थे । व्यक्तिवाद बहुत बढ़ गया था । 'अपनी अपनी डफली अपना अपना राग' अलापा जा रहा था । 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वालों के लिए सफलता थी । कबीर ने इस वैयक्तिकता का उत्तर अपनी निर्गुण भाव की भक्ति से दिया, जो किसी एक धर्म, वर्ग, जाति या व्यक्ति की बपौती नहीं बन सकती थी ।

कबीर ने अनुभव किया कि धर्म और समाज का सम्बन्ध उस काल में विपरीत हो गया था । धर्म के वास्तविक रूप का ही तब लोप हो गया था । समाज की धारणा करनेवाले सत्-तत्त्वों की अपेक्षा व्यक्ति के स्वार्थ को बढ़ावा देनेवाले बाह्याचार और ढोंग-दम्भ समाज में बहुत अधिक मात्रा में फैल गये थे । नीतिशास्त्र भी लुप्त हो गया था । कबीर ने नीति को अपने और सामाजिक जीवन में प्राथमिकता देकर एक महान् आदर्श प्रस्तुत किया ।

साहस के साथ प्रतिकार

शासन उग्रवादियों का था । सामान्य प्रजाजन असहाय थे । एक जाति दूसरी जाति को दबा रही थी । भाईचारा नाम की वस्तु नष्ट हो रही थी । विद्वेष की अग्नि भड़क रही थी । कबीर ने इस दुर्दशा को रोकने की कोशिश की । विनम्र शब्दों में उनकी घोषणा थी—

पण्डित मुल्ला जो लिखा दिया ।
छाँड़ि चले हम कछु न लिया ।।

या फिर कभी ताव में आकर उन्होंने धूर्त, साम्प्रदायिकों और आतंकवादियों को कठोर फटकार भी सुनायी थी—

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ ।
जो घर फूंकै आपणा चलै हमारे साथ ।।

कबीर खुलेआम खड़े हैं। जो भी सन्मार्ग पर चलना चाहे, वह आ सकता है उनके साथ। पर इसके लिए सारे माया-मोह और व्यक्तिगत स्वार्थ-लाभ छोड़ देने पड़ेंगे।

कबीर बड़े ही आत्मनिर्भर व्यक्ति थे। सन्मार्ग-प्रियता ने उनमें एक अद्भुत आत्मविश्वास भर दिया था।

सच्ची मानवीयता

कबीर न हिन्दू थे, न मुसलमान। उनका व्यक्तित्व जन्म से ही जटिल था। एक ओर वे मुसलमानी धर्म और विश्वासों से भलीभाँति परिचित थे, क्योंकि उनकी परवरिश ही एक जुलाहे के घर हुई थी। फिर वे सूफी और नाथपन्थी फकीर-साधुओं के साथ भी रहे थे। इससे योग और साधना का क्षेत्र उन्हें बहुत बारीकी से ज्ञात हुआ था। दूसरी ओर वे रामानन्द जैसे प्रतिष्ठाप्राप्त पण्डित के शिष्य भी माने जाते थे। इस तरह कबीर जुलाहा मुसलमान भी थे, नाथपन्थी भी, वैष्णव भी और रामभक्त भी। वास्तव में कबीर पक सच्चे इन्सान थे, जो सज्जन के काम को अच्छी तरह जानते थे—

जो जल बाढ़ै नाव में घर में बाढ़ै दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए, यह सज्जन कै काम॥

गाँठ बाँधना, कहीं पर भी अपना स्वार्थ देखना—यह कबीर के जीवन का रास्ता नहीं था। वे समाज के नेता थे। मगर ऐसे नेता जो—

साधु गाँठि न बाँधई पेट समाता लेइ।
साँई के सम्मुख रहे, जहँ माँगे तहँ देइ॥

या कि,

साँई इतना दीजिए जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय॥

भगवान् से भी माँग है तो बस इतनी ही कि जितना आवश्यक हो उतना ही मिले। और वह भी किसलिए ? साधु-सज्जन अगर घर आएँ तो उनके लिए। कैसी अद्भुत जीवन-कल्पना है !

सहज साधना का स्वरूप

कबीर के समय ब्रह्मवादी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त इत्यादि अनेकानेक मत थे और ये मत श्रुति, स्मृति, पुराण, लोकाचार, कुलाचार आदि अनेक आधारों पर संगठित भी थे। पण्डितों ने शास्त्रीय वचनों के हवाले देते हुए आचारप्रधान धर्ममत का प्रचार किया। तीर्थ, व्रत, उपवास इत्यादि को महत्त्व दिया। उच्चवर्णीय हिन्दुओं को महत्त्व देते हुए निम्नवर्गीय भाई-बहनों को सामान्य अधिकारों तक से वंचित रखा।

कबीर और सन्त-मत के सुधारक कवि-महात्मा इस आचारप्रवण संकीर्ण साम्प्रदायिकता के खिलाफ आन्दोलन करते रहे।

इसी काल में बौद्ध वज्रयानी सिद्धों के तांत्रिक आचारों का बोलबाला रहा। उत्तरप्रदेश और बिहार से लेकर बंगाल-आसाम तक चौरासी सिद्धों ने समय-समय पर सामान्य जनता को आकर्षित किया था। यद्यपि सिद्ध और नाथपन्थी लोग जाति-पाँति के खिलाफ थे, फिर भी वे अनियंत्रित और लक्ष्यहीन थे। ध्यान और भक्ति के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा बरतनेवाले वामाचारी सिद्ध रहस्य और गुह्य प्रवृत्तियों को महत्त्व देते थे।

कबीर ने नाथों से सहज-साधना तो ली, पर वे कोरे हठयोगी नहीं बने। काया-साधना का महत्त्व स्वीकार कर उन्होंने सामाजिक सुधार पर जोर दिया।

इसी समय इस्लाम के एकेश्वरवाद से असन्तुष्ट सूफी साधक भी अपनी प्रेममार्गी साधना को बढ़ा रहे थे। ये लोग कट्टर और संकीर्ण तो नहीं थे, पर शासकों से एक प्रकार का समझौता करते रहे। कबीर ने इनका अनुगमन नहीं किया। वे सिद्ध, नाथ, सूफी, भक्त उपासक किसी एक धारा के नहीं बने।

दो टूक व्यवहार

भगवान् की भक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुए कबीर ने माना कि एक आदमी दूसरे आदमी से आदमी की हैसियत से ही मिले। भगवान् से भी मिलना है तो बीच में कोई दलाल न हो। जाति-पाँति, वंश, धर्म, संस्कार, रुढ़ि, विश्वास, शास्त्र इन सबके परे एक अदम्य आस्था और अटूट विश्वास से कबीर व्यवहार करते रहे। समकालीन शासकों, शोषकों और धर्म के नाम पर अपनी स्वार्थ-साधना करनेवाले मुल्ला-मौलवियों और पण्डितों की कबीर ने कड़वी आलोचना की। उन्होंने खुलकर पूछा—

"अगर नग्न घूमकर ईश्वर से योग सम्भव होता तो क्या जंगल के जानवर मुक्तात्मा न बनते? मूड़ मुड़ाए अगर हरि मिलते तो क्या भेड़-बकरियाँ भी वैकुण्ठ तक न पहुँचतीं?"

तत्कालीन अन्यायपूर्ण राज्य-व्यवस्था पर करारा प्रहार करते हुए बोले, "काजी, तुम तो राजसी ठाठ से रहते हो और ठीक से बात भी नहीं करते। हम ठहरे दीन, ईश्वर के सेवक। लेकिन इतना तो जानते हैं कि कोई भगवान् कभी किसी को नहीं बताता कि अन्याचार करते रहो।"

इस तरह दो टूक बात और व्यवहार करनेवाले

कबीर बाह्याचार और सामाजिक अन्याय बरदाश्त नहीं करते थे। हिन्दू-मसलमानों का वैमनस्य भी उन्हें अमान्य था। 'साँई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय'—सदैव यही उनका भाव रहा। 'घट घट में वह साँई रमता कटुक वचन मत बोल!' यही उनकी विनती रही।

ईश्वर का वास्तविक स्वरूप

ईश्वर की उपासना करनेवालों के अपने अपने आग्रह थे। कोई कृष्ण का भक्त था, कोई राम का, कोई देवी का तो कोई किसी अन्य अवतार का। कबीर ने सबसे कहा—

करता के कछु रूप न देखा,
करता के कछु बरन न लेखा,
ताके जात गोत कछु नाहीं,
महिमा बरनि न जाय मो पाहीं,
रूप अरूप नहीं तेहि ताऊँ,
बर्न अबर्न नहीं तेहि ठाऊँ,
कबिरा कहै बिचारिकै, जाके बर्न न गाँव।
निराकार और निर्गुना है पूरत सब ठाँव॥

उस समय जबकि ईश्वरावतारों का पूजा-विधान समाज पर पूरी तरह से हावी था और बाह्य आचरण ही साधना माना जाता था, तब कबीर ने समझाया कि ईश्वर के जाति, गोत्र कुछ नहीं होता। वह सब एक कल्पना मात्र है—एक महान्, अनन्त, अनाकार की उदात्त कल्पना। विचारपूर्वक सोचो, भगवान् वर्णनातीत है। न उसका कोई एक ठौर है, न रूप, न रंग, न प्रतिमा। हाँ, वह सदा सर्वत्र है। कोई बिरला पीर, सत्पुरुष ही उसे देख सकता है। और पीर भी कैसा?—

कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर।

जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर ।।

प्रेम का मंत्र

कबीर तो स्वयं ईश्वर की भक्ति करते थे, मगर ईश्वर की एक विशिष्ट आकार की मूर्ति मानने के खिलाफ थे । वे कहते हैं—

चारि भुजा के भजन में भूलि परै सब सन्त ।
कबिरा सुमिरै तासु को जाके भुजा अनन्त ।।

कबीर भले ही निर्गुणवादी थे, परन्तु उनकी दार्शनिक मान्यताओं का मुख्य आधार प्रेममय भक्ति का ही था । वे वेदान्त और सूफी प्रेममार्ग दोनों से प्रभावित थे । वे बार बार कहते हैं कि प्रेम सर्वोपरि है । सारे पोथी-पुराण ग्रन्थों से ऊँची कोई वस्तु है तो वह है प्रेम—

पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट ।
कहै कबीरा प्रेम की लगी न एकौ छींट ।।

या फिर,

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय ।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय ।।

वस्तुत: कबीर अपनी दार्शनिक एवं सामाजिक चेतना में अतीव स्वतंत्र विचारक थे । उनकी अपनी यह निश्चित मान्यता थी कि आदमी अपने सुसंस्कारों से बनता है, योग्यताओं से बढ़ता है और अपने आत्मविश्वास से ही विश्व की परमसत्ता से नाता जोड़ सकता है । इसीलिए उन्होंने कहा—

झीनी झीनी बिनी चदरिया !
जो चादर सुरमुनि ने ओढ़ी,
दास कबीरा जतन से ओढ़ी,
जस की तस रख दीनी चदरिया !!

और दिखा दिया कि जीवन का वस्त्र ओढ़ने में सावधानी बरतने का सन्तोष कबीर ने कैसे प्राप्त किया। कबीर का जीवन और कार्य हमें यह बताता है कि जाति, सम्प्रदाय अथवा दीक्षा की अनुगति आदमी को समाज में सम्मानित नहीं करती। स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ही समाज को सच्चाई की राह दिखाती है।

स योगी परमो मतः

(गीताध्याय ६, श्लोक २४-३२)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।६/२४।।
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।६/२५।।

संकल्पप्रभवान् (संकल्प से उत्पन्न होनेवाली) सर्वान् (समस्त) कामान् (कामनाओं को) अशेषतः (पूरी तरह से) त्यक्त्वा (त्यागकर) मनसा (मन के द्वारा) इन्द्रियग्रामं (इन्द्रियों के समुदाय को) समन्ततः (सब ओर से) एव (ही) विनियम्य (अच्छी तरह नियंत्रण में लाकर) धृतिगृहीतया (धैर्य से युक्त) बुद्ध्या (बुद्धि द्वारा) मनः (मन को) आत्मसंस्थं (आत्मा में स्थापित) कृत्वा (करके) शनैः शनैः (धीरे धीरे) उपरमेत् (उपरामता को प्राप्त होवे) किंचित् (तनिक) अपि (भी) न (नहीं) चिन्तयेत् (सोचे) ।

"संकल्प से उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओं को पूरी तरह से त्यागकर, मन के द्वारा इन्द्रिय-समुदाय को सभी ओर से अच्छी तरह नियन्त्रण में लाकर (तथा) धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को धीरे धीरे (यानी क्रमपूर्वक) आत्मा में स्थिर करके (योगी अर्थात् योग का साधक) उपरामता को प्राप्त हो जावे (तथा) तनिक भी न सोचे ।"

पिछले श्लोक में योगसाधन की कर्तव्यता बतलाते हुए साधक से कहा गया कि उसे निश्चयपूर्वक योग की प्राप्ति में लग जाना चाहिए । यहाँ पर यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि उस योग की स्थिति को पाने के लिए क्या किया

जाना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण चार करणीय बातों का निर्देश करते हैं—(१) संकल्प से उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओं को पूरी तरह से त्यागो; (२) मन के द्वारा इन्द्रिय-समुदाय को सभी ओर से अच्छी तरह से नियंत्रण में लाओ; (३) धीरजसम्पन्न बुद्धि के द्वारा मन को क्रमशः आत्मा में स्थिर करो और उपराम (विषयों से अलग) हो जाओ; तथा (४) आत्मा को छोड़ अन्य कुछ का तनिक भी चिन्तन न करो। इनमें प्रथम तीन बातें तो विधेयात्मक हैं तथा अन्तिम है निषेधात्मक। हम इन पर अब विस्तार से विचार करें:—

(१) 'संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा':—यहाँ साधक से कहा जा रहा है कि वह सभी कामनाओं का निःशेषरूप से त्याग कर दे। निःशेषरूप से त्याग का तात्पर्य है जड़-मूल से त्याग। कामना की जड़ कहाँ है?—आसक्ति में। आसक्ति कैसे पैदा होती है?—बार-बार चिन्तन करने से, जैसा कि गीता के दूसरे अध्याय के ६२ वें श्लोक में बतलाया गया है—'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते'। किसी विषय का बार-बार चिन्तन क्यों होता है?—मन में उसके भोग की स्मृति बनी रहने के कारण। विषय-भोग की यह स्मृति मन में क्यों बनी रहती है?—संकल्प के कारण। इस प्रकार कामनाओं का मूल 'संकल्प' हुआ। इसीलिए यहाँ पर 'कामान्' का विशेषण लगाया है 'संकल्पप्रभवान्', अतः 'अशेषतः' त्याग का तात्पर्य हुआ—संकल्प, भोगस्मृति, चिन्तन और आसक्ति समेत कामना का त्याग।

जब हम किसी विषय का भोग करते हैं, तब उसकी स्मृति हमारे अन्तःकरण में सुख या दुःख की संवेदना के

रूप में बनी रहती है । यदि हमें उस विषयभोग में सुख मिला था, तो बार-बार मन में उसे फिर से भोगने का संकल्प अपने आप उठता है और यदि उसमें दुःख की अनुभूति हुई थी, तो उससे अपने को बचाने का संकल्प उठा करता है । यह संकल्प बरबस विषय का ध्यान मन में उठा देता है । बारम्बार विषय का ध्यान या तो मन में आसक्ति को जन्म देता है या फिर घृणा को । सुखरूप स्मृति से आसक्ति जन्म लेती है और दुःखरूप स्मृति से घृणा । आसक्ति और घृणा समान रूप से हमारे मन में कामना को जन्म देती हैं—आसक्ति से विषय को फिर से भोगने की कामना उपजती है और घृणा से विषय से दूर रहने की कामना । कामना के ये दोनों रूप चित्त के लिए विक्षेपकारक होते हैं । इन सभी का त्याग कर देना चाहिए यह 'सर्वान्' विशेषण से सूचित किया गया । घृणा का ही एक और रूप है भय । भय में भी व्यक्ति अपने को सम्बन्धित विषय से बचाकर दूर रखना चाहता है । आसक्ति, घृणा, भय—ये सभी अपने-अपने अनुरूप मन में कामना को जन्म देकर चित्त में विक्षेप की सृष्टि करते हैं । अतः कामना का निःशेष त्याग चित्त-विक्षेप को दूर करेगा और इस प्रकार चंचल मन को पकड़ने में हमारी सहायता करेगा । मन को इस प्रकार पकड़ में ले आने की अवस्था ही शास्त्रों में 'शम' के नाम से पुकारी गयी है ।

(२) 'मनसैव इन्द्रियग्रामं समन्ततः विनियम्य':—'शम' के पश्चात दूसरा कदम है 'दम'—मन के द्वारा इन्द्रियों पर नियंत्रण पा लेना । हमारी वर्तमान स्थिति ऐसी है कि इन्द्रियाँ हमारे मन को अपने साथ भगाकर ले जाती हैं । इन्द्रियों का स्वभाव ही है बाहर की ओर जाना—

अपने विषयों में विचरण करना। आँखें रूप देखेंगी, कान शब्द सुनेंगे, रसना स्वाद लेगी, घ्राणेन्द्रिय गन्ध का आस्वादन करेगी और स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श-सुख के लिए लालायित रहेगी। इसके लिए इन्द्रियाँ मन को अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, क्योंकि बिना मन के साथ गये कोई भी इन्द्रिय विषय-ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाती। मन जहाँ किसी इन्द्रिय के फेर में पड़ा कि उसके विषय का सेवन हुआ, विषय-सेवन से मन में संस्कार पड़ा, संस्कार से संकल्प उठने लगा और इस प्रकार अन्त में संकल्प से कामना का तरु खड़ा हो गया। अतः यदि हम चाहते हैं कि कामना-तरु का उच्छेद ठीक ढंग से हो और हमारे जीवन में 'शम' की प्रतिष्ठा हो, तो इन्द्रियों को मन के नियंत्रण में लाना ही होगा। आज हमारा मन इन्द्रियों का गुलाम है, उनके कहने पर उठता-बैठता है; इसे ऐसा बनाना पड़ेगा कि इन्द्रियाँ इसकी गुलाम हो जायँ।

जब मन इन्द्रियों पर अपना आधिपत्य जमाने की चेष्टा करता है, तो इन्द्रियाँ किसी भी प्रकार बचकर अपने विषयों की ओर छूट जाना चाहती हैं। उन्हें सब ओर से घेरकर अन्तःकरण की बाड़ में समेटना पड़ता है, जैसे चरवाहा अपनी भेड़-बकरियों को सब ओर से घेरते हुए चलता है। यही 'समन्ततः विनियम्य' (सब ओर से अच्छी तरह से नियंत्रण में लाना) का अर्थ है।

(३) 'धृतिगृहीतया बुद्धया मनः शनैः शनैः आत्मसंस्थं कृत्वा उपरमेत्':—प्रश्न उठता है कि मन के द्वारा इन्द्रियों को विषयों से हाँककर तो ले आये, फिर उसके बाद क्या करना? मन का स्वभाव ही उछल-कूद करना है। उसे एक स्थान से यदि निकाल भी लें, तो वह चुप बैठनेवाला

नहीं है। वह सतत क्रियाशील है। जब तक उसकी क्रियाशीलता को अनुकूल भोजन नहीं मिलेगा, तब तक वह विषय-भोगरूप प्रतिकूल भोजन की ओर जाने के लिए मचलता रहेगा। इसलिए यहाँ पर बता रहे हैं कि वह अनुकूल भोजन क्या है। कहते हैं कि धीरजसम्पन्न बुद्धि के द्वारा मन को धीरे-धीरे आत्मा में स्थापित करना चाहिए और विषयों से उपरत हो जाना चाहिए। इसे शास्त्रों ने 'उपरति' के नाम से सम्बोधित किया है। वेदान्तशास्त्र में आत्मतत्त्व की अनुभूति के लिए 'साधनचपुष्टय' की बात कही गयी है, जिसमें तीसरा साधन है 'षट्सम्पत्ति' अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा—ये छः सम्पत्तियाँ। प्रस्तुत श्लोकों में शम, दम और उपरति की बात कही गयी है। यह बतलाया गया है कि मन की बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे आत्मा में स्थिर करना चाहिए।

धीरे-धीरे ('शनैः शनैः') क्यों?—इसलिए कि यह काम जल्दी का नहीं है। मन को यदि कोई एकदम से आत्मा में केन्द्रित करना चाहे तो यह सम्भव नहीं है। मन कोई ठोस पदार्थ नहीं है कि उसे एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में रख दिया जाय। मन की वृत्तियों के समेटने की तुलना बिखरे हुए राई के दानों के समेटने से की जाती है। राई की पोटली हाथ से छूटकर नीचे गिरकर खुल गयी और राई के दाने चारों ओर बिखर गये—यह चित्तवृत्तियों की उपमा है। बिखरे हुए मन को समेटना इन दानों को समेटने के समान ही कठिन है। यह काम एकाएक नहीं सधता—यह क्रमशः ही सधता है। पतंजलि अपने 'योगसूत्र' में लिखते हैं—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (१/१३) (अर्थात् उन वृत्तियों को पूर्णतया वश में रखने के लिए अभ्यासरूप

सतत प्रयत्न करना पड़ता है) तथा 'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' (१/१४) (अर्थात् दीर्घ-काल तक परम श्रद्धा के साथ सतत चेष्टा करने से वह अभ्यास दृढ़भूमि होता यानी जमीन पकड़ता है) । इसीलिए यहाँ पर 'शनैः शनैः' कहा है ।

फिर कहते हैं—'धीरजसम्पन्न बुद्धि के द्वारा' ('धृति-गृहीतया बुद्धया') । जिस बुद्धि में धीरज नहीं है, वह मन को आत्मा में स्थिर करने का काम नहीं कर सकती ; क्योंकि हमने बुद्धि से, विवेक से, विचार से मन को आत्मा में लगाया तो सही, पर कुछ ही क्षण में मन फुर्र से वहाँ से निकल भागता है । उसे फिर प्रयत्नपूर्वक विचार के द्वारा खींच आत्मा में लगाना पड़ता है । यह बारम्बार होता है, जिसके फलस्वरूप बुद्धि में ऊब का भाव आने लगता है, बुद्धि धीरज खोने लगती है । वही साधक सफल होता है, जो 'अनिर्विण्ण-चेतस्' (६/२३) होता है, जिसकी व्याख्या हम अपने पूर्व प्रवचन में कर चुके हैं । इसीलिए यहाँ पर 'बुद्धि' का विशेषण लगाया धीरजसम्पन्न, धैर्ययुक्त ।

धैर्यसम्पन्न बुद्धि द्वारा मन को पकड़कर आत्मा में बिठाने से विषयों से उपरति अपने आप साधित होती है । जब हम मन को 'दम' का अभ्यास करते हुए, बलपूर्वक, इन्द्रियों से हटाते हैं, तो उसमें इन्द्रियों के प्रति आकर्षण बना रहता है और उस काल में इन्द्रियाँ भी बड़ी खींचतान करती हैं । पर जब हम मन को विवेक-विचार से पूर्ण बुद्धि के द्वारा आत्मा में स्थापित करते हैं, तब उसका विचलन धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है और क्रमशः हमें विषयों से उपरामता प्राप्त होने लगती है । यही सही उपरति है ।

ऐसी उपरति टिकाऊ होती है ।

(४) 'न किंचिदपि चिन्तयेत्':—जब ऐसी उपरामता प्राप्त होने लगती है, उस समय अपने मन में उठनेवाले विचारों के प्रति हमें उदासीन हो जाना चाहिए । कई लोग इस श्लोकांश का अर्थ करते हैं—'परमात्मा को छोड़ अन्य किसी बात का तनिक भी चिन्तन न करे' । यह भी इसका एक अर्थ हो सकता है, पर साधक कितनी भी चेष्टा क्यों न करे, उसका मन आत्मविचार के घेरे से भाग ही निकलता है और कभी-कभी तो ऐसे गन्दे विचार उसमें उठने लगते हैं कि उसे आत्मग्लानि होने लगती है । ऐसे समय साधक हतोत्साहित होने लगता है । इस स्थिति के सन्दर्भ में कहा जा रहा है कि साधक कुछ भी चिन्ता न करे, कुछ भी न सोचे । यदि उसके मन में अवांछित विचार उठते हों, तो वह उनकी ओर ध्यान न दे, उनकी उपेक्षा करे । इससे वे विचार धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं । इसके विपरीत, यदि हम किसी विचार को जोर-जबरदस्तीपूर्वक दबाना चाहें, तो वह दबता नहीं है बल्कि और भी जोर से मन की सतह पर उठ आता है । किसी भी विचार-लहरी को शान्त करने का उत्तम उपाय है उसकी उपेक्षा कर देना ।

जब मन आत्मा से हटकर बाहर चला जाता है, उस समय क्या करना चाहिए ? क्या उसकी ओर ध्यान न देकर उसे बाहर विचरण करने देना चहिए ? इस प्रश्न का उत्तर अगले श्लोक में देते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।६/२६।।

एतत् (यह) अस्थिरं (अस्थिर) चञ्चलं (चंचल) मनः (मन) यतः यतः (जहाँ जहाँ) निश्चरति (विचरता है) ततः ततः (वहाँ

वहाँ से) नियम्य (रोककर) आत्मनि (आत्मा में) एव (ही) वशं (वश में) नयेत् (ले आवे)।

"यह स्थिर न रहनेवाला (और) चंचल मन जहाँ जहाँ (जिस जिस विषय की ओर धावित होकर) विचरण करने लगता है, (उसे) वहाँ वहाँ से रोककर आत्मा में ही (केन्द्रित करके) वश में ले आवे।"

यह गीतोक्त साधना-प्रणाली है। इसी को अध्यात्म-शास्त्र में 'अभ्यास' कहते हैं, जिसका उल्लेख भगवान् कृष्ण ने आगे चलकर इसी अध्याय के ३५ वें श्लोक में किया है। यदि मन आत्मा से भाग-भाग जाता है, तो उसे पकड़कर फिर फिर से आत्मा में बिठाना चाहिए। यह सोच नहीं करना चाहिए कि 'अरे, मेरा मन विषयों में क्यों चला गया?' 'अरे, मेरे मन में ये गन्दे विचार कैसे आ गये?' आदि। मन आत्मा से भागकर जहाँ भी गया हो, हमें उसका सोच नहीं करना चाहिए ('न किंचिदपि चिन्तयेत्'); हमें तो धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को पकड़कर फिर से आत्मा में लाकर बिठा देना चाहिए और इस प्रकार उसे अपने वश में लाने का अभ्यास करना चाहिए।

इस साधना-प्रणाली का व्यावहारिक रूप यों है:—हम बुद्धि के द्वारा मन को पकड़कर उसे ज्योतिःस्वरूप आत्मा में लगाते हैं और बुद्धि को चौकीदार नियुक्त करते हैं, उससे कहते हैं कि 'बुद्धि, मन पर नजर रखना, वह इधर-उधर भागे मत'। कुछ क्षण पश्चात् हमें भान होता है कि मन आत्मा से भागकर इन्द्रियों के साथ विषयों में चला आया है और अपने साथ चौकीदार बुद्धि को भी लेता आया है। ज्योंही बुद्धि की यह कामचोरी पकड़ी जाती है कि वह झट से मानो उछलकर फिर मन को पकड़कर ले आती है

और आत्मा में बिठा देती है। कुछ क्षण पश्चात् पुन: बुद्धि वही गफलत कर बैठती है और कामचोरी के पकड़े जाने पर झट मन को आत्मा में ले आती है। प्रारम्भिक अवस्था में मन का चला जाना और फिर उसे लाकर बिठाना यह क्रम इतना अधिक होता है कि अधिकांश साधक ऊबकर साधना छोड़ देते हैं। पर जिनकी बुद्धि में धैर्य अधिक है, वे उकताते नहीं और यह अभ्यास निरन्तर किये जाते हैं। फलस्वरूप दो बातें होती हैं—मान लीजिए मन २ सेकण्ड बाद ही आत्मा से भाग जाता था और ३० सेकण्ड बाद मुझे भान होता था कि मन भाग आया है। जब मैं बिना उकताये यह अभ्यास करता हूँ, तब देखता हूँ कि अब मन ३ सेकण्ड बाद भागता है और २५ सेकण्ड बाद ही पकड़ में आ जाता है। क्रमश: आत्मा में बैठे रहने की अवधि बढ़ने लगती है और विषयों में विचरण करते रहने की अवधि कम होती जाती है। एक दिन ऐसा आता है कि मन में आत्मा से भागने की वृत्ति आयी नहीं कि वह पकड़ ली जाती है, फलस्वरूप मन भाग नहीं पाता। यही 'एतद् आत्मन्येव वशं नयेत' का अर्थ है। यही योग की स्थिति है, जिसे पाने पर होनेवाली अवस्था का वर्णन अगले छ: श्लोकों में किया गया है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥६/२७॥

प्रशान्तमनसं (प्रशान्तचित्त) शान्तरजसम् (रजोगुण शान्त हो गया है जिसका वह) अकल्मषं (निष्पाप) ब्रह्मभूतम् (ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए) एनं (इस) योगिनम् (योगी को) उत्तमं (उत्तम) सुखम् (सुख) उपैति (प्राप्त होता है) हि (ही)।

"जिसके सारे पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण और मन सर्वथा शान्त हो गया है, ऐसे ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए योगी को उत्तम सुख की ही प्राप्ति होती है।"

उपर्युक्त साधना-प्रणाली में सिद्धि के फलस्वरूप योगी का चित्त संकल्प के अभाव में पूरी तरह से विक्षेप-रहित होकर शान्त हो जाता है। यही सत्त्वगुण में स्थिति है। इससे रजोगुण की भी शान्ति होती है। रजोगुण ही आसक्ति, लोभ, कामना, तृष्णा आदि को जन्म देकर शरीर और मन को चंचल बनाता है। फिर उसके भीतर की आलस्य, प्रमाद, मोह, दुर्गुण, दुराचार रूपी तमोगुणी वृत्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं और इस प्रकार वह निष्पाप हो जाता है। इस तरह रजोगुण और तमोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थिति प्राप्त होने के फलस्वरूप योगी ब्रह्मभाव में दृढ़रूप से स्थित हो जाता है। उसे यह अनुभूति होने लगती है कि 'मैं देह नहीं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ'। इस अनुभूति के फलस्वरूप वह श्रेष्ठ सुख का ही अधिकारी होता है। 'उत्तम सुख' का तात्पर्य है सात्त्विक सुख से। कुछ व्याख्याकारों ने इसे सम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप माना है। यह योग की चरम स्थिति न हो उससे एक सोपान नीचे है। अगले श्लोक में योग की चरम स्थिति का वर्णन किया जा रहा है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।६/२८।।

विगतकल्मषः (पापरहित) योगी (योगी) एवं (इस प्रकार) सदा (निरन्तर) आत्मानं (अपने आप को) युञ्जन् ([परमात्मा से] युक्त करते हुए) सुखेन (सुखपूर्वक, सहज ही) ब्रह्मसंस्पर्शम् (ब्रह्म-

प्राप्ति-रूप) अत्यन्तं (अनन्त) सुखम् (आनन्द को) अश्नुते (प्राप्त होता है)।

"(वह) पापरहित योगी इस प्रकार अपने आपको निरन्तर (परमात्मा से) युक्त करते हुए अनायास ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति-रूप अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।"

कतिपय व्याख्याकारों ने इसे असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप माना है। २४ वें से २६ वें श्लोक तक में वर्णित साधना-पद्धति का अनुवर्तन करते हुए पहले योगी तमोगुण और रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्व-गुण में स्थित होता है। इसका वर्णन पूर्व श्लोक में किया गया है। तत्पश्चात् साधना में निरन्तर लगे रहने पर वह अनायास ही अन्तिम सोपान पर आ पहुँचता है और ब्रह्म-संस्पर्शरूप अक्षय, असीम, अनन्त आनन्द का अधिकारी बनता है।

व्याख्याकारों ने 'ब्रह्मसंस्पर्श' की व्याख्या तरह-तरह से की है। कोई उसका अर्थ 'ब्रह्मानुभव' करते हैं, तो कोई 'ब्रह्म-तादात्म्य'। आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं—'ब्रह्मणा परेण संस्पर्शो यस्य तद् ब्रह्मसंस्पर्शम्'—अर्थात् जिसका परब्रह्म से संस्पर्श है, सम्बन्ध है, वह ब्रह्म-संस्पर्श है। श्रीधरस्वामी के अनुसार उसका अर्थ है 'अविद्या-निवर्तकः साक्षात्कारः'—अर्थात् अविद्या की निवृत्ति करने-वाला साक्षात्कार। कुछ लोगों की दृष्टि में यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है।

इस अवस्था में योगी को 'अत्यन्त सुख' का अनुभव होता है। 'अत्यन्तम्' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं—'अन्तम् अतीत्व वर्तणे इति अत्यन्तम् उत्कृष्टं निरतिशयम्'—अर्थात् अन्त से अतीत इस प्रकार

अनन्त, उत्कृष्ट, निरतिशय। इससे अधिक सुख की कल्पना नहीं की जा सकती। 'गीता' में अन्यत्र ऐसे सुख को 'अक्षय सुख' (५/२१) और 'आत्यन्तिक सुख' (६/२१) कहा है। यह सहज सुख की अवस्था है। संसार के जितने भी सुख हैं, वे वस्तु की अपेक्षा रखते हैं। जो सुख वस्तुसापेक्ष है, वह असहज सुख है। सहज सुख बाहर की किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता, वह हमें अपने आप, अपने स्वरूप में स्थित होने के कारण प्राप्त होता है, वह किसी क्रियाविशेष का परिणाम नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ईश्वर को 'सहज सुखरासी' (७/११६/२) कहा है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' की भाषा में (७/२३/१) वह 'भूमा सुख' है।

फिर कहा कि योगी इस ब्रह्मसंस्पर्शरूप अनन्त आनन्द को 'सुखेन अश्नुते'—सुखपूर्वक, सहज ही, बिना किसी अभ्यास या चेष्टा के पा लेता है। तात्पर्य यह है कि सविकल्पक से निर्विकल्पक, सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात समाधि में जाने के लिए किसी चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती। साधक की तन्मयता ही उसे उच्चतम लक्ष्य तक ले जाती है। चेष्टा में कर्तृत्व होता है, और कर्तृत्व सर्वदा ही अहंकार से युक्त रहता है। सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति तक साधक का कर्तृत्व आवश्यक होता है, उसे साधना 'करनी' पड़ती है। पर एक बार उस स्थिति में पहुँच जाने पर फिर साधना 'होती' है, 'करनी' नहीं पड़ती। इसी को 'सुखेन' शब्द द्वारा अभिव्यंजित किया गया है।

फिर, जिस 'अत्यन्त सुख' की बात कही जा रही है, वह भी अनायास ही प्राप्त होता है—वह अहंभाव के पूरी तरह से विलय की अवस्था है। इसकी प्राप्ति में भी साधक का कोई कर्तृत्व नहीं होता। ब्रह्मानुभव की प्राप्ति ही

अत्यन्त सुख की प्राप्ति है। 'ब्रह्मानुभव' और 'अत्यन्त सुख' ये दो शब्दावलियाँ एक ही स्थिति का बोध कराती हैं। इसलिए भी 'सुखेन' शब्द का व्यवहार किया गया है।

अब अगले श्लोक में यह बतला रहे हैं कि ब्रह्मानुभूति-सम्पन्न ऐसा योगी व्यवहार-काल में किस प्रकार वर्तन करता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः॥६/२९॥

योगयुक्तात्मा (समाधियोग में युक्त अन्तःकरणवाला) सर्वत्र (सब जगह) समदर्शनः (समभाव से देखनेवाला) आत्मानं (अपने आप को) सर्वभूतस्थं (सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित) च (तथा) सर्वभूतानि (समस्त प्राणियों को) आत्मनि (अपने आप में) ईक्षते देखता है)।

"(उपर्युक्त) समाधियोग से युक्त अन्तःकरणवाला (तथा) सर्वत्र समभाव से देखनेवाला (योगी) अपने (आत्मस्वरूप) को समस्त प्राणियों में स्थित तथा सब प्राणियों को अपने (आत्मस्वरूप) में देखता है।"

समाधियोग के अभ्यास से जिसने ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त कर लिया है, वह व्युत्थान की दशा में क्या अनुभव करता है, इसका चित्र यहाँ पर खींचा गया है। समाधि-अवस्था में योगी का मन, बुद्धि, अहंकार सब कुछ आत्मसत्ता में विलीन हो जाता है और उसे अपने स्वरूप का बोध होता है। समाधि से नीचे आने पर उसकी दृष्टि जहाँ भी जाती है, वहाँ आत्मसत्ता को छोड़ उसे और कुछ नहीं दिखता। विभिन्न प्राणियों के रूप उसे तकिये के अलग-अलग गिलाफ के रूप में दिखाई देते हैं और सबके भीतर उसे आत्मारूप रुई दिखाई देती है—वही रुई जो उसके अपने शरीररूप

गिलाफ के भीतर भरी है। वह अपनी ही सत्ता को सर्वत्र देखता है, यही उसके समदर्शन का आधार है। फिर, वह प्राणियों को अपने भीतर भी देखता है। जैसे मैंने स्वप्न में बहुत से लोगों को देखा। जब जागता हूँ, तब कोई भी नहीं है, फिर भी मैंने सबको अपने भीतर देखा है। उसी प्रकार योगी भी सबको अपने भीतर देखता है, वह समझता है कि सारा भूतात्मक जगत् स्वप्न के ही समान उसके भीतर समाया हुआ है। जहाँ अपने स्वरूप को सबमें स्थित देखने से आत्मा की सर्वव्यापिता की अनुभूति दृढ़ होती है, वहीं सबको अपने में देखने से सब रूपों का विनाशत्व और क्षण-भंगुरत्व अनुभव में आता है तथा समाधि में अनुभूत अपनी आत्मस्वरूपता का सत्य ही एकमात्र सत्य एवं शेष सब दीखनेवाले रूप असत्य प्रतिभात होते हैं।

अब इसी अनुभूति को भक्ति की भाषा में व्यक्त करते हुए कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६/३०॥

यः (जो) मां (मुझे) सर्वत्र (सब जगह) पश्यति (देखता है) च (और) सर्वं (सबको) मयि (मुझमें) पश्यति (देखता है) तस्य (उसके लिए) अहं (मैं) न प्रणश्यामि (ओझल नहीं होता) च (और) सः (वह) मे (मेरे लिए) न प्रणश्यति (ओझल नहीं होता)।

"जो (सबके आत्मरूप) मुझ (वासुदेव) को सब जगह (सबमें व्याप्त) देखता है तथा सबको मुझमें देखता है, उसके लिए मैं ओझल नहीं होता और वह मेरे लिए ओझल नहीं होता।"

पूर्व श्लोक में वर्णित ध्यानयोगी की अनुभूति को भक्त भी अपने ढंग से अपने जीवन में प्राप्त करता है। वह भगवान् वासुदेव को अपनी आत्मा के रूप में अनुभव करता है और

सारा संसार उसे उन्हीं का पसारा दिखाई देता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी अनुभूति को व्यक्त करते हुए लिखा है--

सीय राममय सब जग जानी ।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।। १/७/५

सधुक्खड़ी भाषा में भी एक पद्य प्रचलित है—

जो राम दशरथ का बेटा ।
वही राम है घट घट लेटा ।।
वही राम है जगत पसारा ।
वही राम है सबसे न्यारा ।।

ये पद्य प्रस्तुत श्लोक के भाव को सही सही प्रकट करते हैं। जो **राम** 'जगत पसारा' हैं, सबके भीतर अन्तर्यामी के रूप में व्याप्त हैं, वे ही फिर 'सबसे न्यारा' भी हैं, सबके अतीत भी हैं। तो, जो भक्त इस प्रकार अपने इष्टदेव को सबमें तथा सबको अपने इष्टदेव में देखता है और यह अनुभव करता है कि उसके इष्टदेव ही सबके उपादान और आधार हैं, उसके लिए इष्टदेव कभी ओझल नहीं होते और न वह स्वयं कभी इष्टदेव से ओझल होता है। जो शिशु सर्वथा माँ के आश्रित है और माँ को छोड़ और कुछ नहीं जानता, उसके लिए माँ कभी ओझल नहीं होती और वह भी माँ के लिए कभी ओझल नहीं होता। माँ को अपनी अन्य सन्तानों का ध्यान भले ही कुछ क्षणों के लिए न भी रहे, पर जो शिशु माँ के बिना नहीं रह सकता अर्थात् माँ को कभी ओझल नहीं करता, उसका ध्यान माँ को निरन्तर बना रहता है। इसी प्रकार उस भक्त और भगवान् का सम्बन्ध होता है, जो उन्हें सबमें और सबको उनमें देखता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।६/३१।।

यः (जो) एकत्वम् (एकीभाव में) आस्थितः (स्थित होकर) सर्वभूतस्थितं (समस्त प्राणियों में स्थित) मां (मुझको) भजति (भजता है) सः (वह) योगी (योगी) सर्वथा (सब प्रकार से) वर्तमानः (बर्तता हुआ) अपि (भी) मयि (मुझमें) वर्तते (बर्तता है)।

"जो योगी एकीभाव में स्थित होकर समस्त प्राणियों में (आत्म-रूप से) स्थित मुझको भजता है, वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझमें (ही) बर्तता है।"

भक्तियोगी अनुभव करता है कि उसके प्रेमास्पद ही सबके भीतर रमे हैं, इसलिए वह सबसे एकत्व का अनुभव करता है। कोई अपरिचित व्यक्ति मेरे पास आया तो एक दूरी बनी रहती है। पर जब मुझे पता चलता है कि वह मेरी ननिहाल से आया है, तो तुरन्त वह मेरे लिए नाना या मामा के समान प्रिय हो जाता है। उस अपरिचित की सेवा मुझे नाना या मामा की सेवा मालूम पड़ती है। इसी प्रकार भक्त भी जब दूसरों से व्यवहार करता है, तो उसे लगता है कि वह अपने प्रेमास्पद भगवान् के विभिन्न रूपों के साथ ही व्यवहार कर रहा है। इसी अर्थ में यहाँ कहा गया है कि 'वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।' उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान् को लेकर होती हैं, जैसाकि कहा गया है—'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्'—हे शम्भो, मैं जो जो कर्म करता हूँ, वह प्रत्येक तुम्हारी ही आराधना है।

यहाँ एक संशय उठाया जा सकता है कि क्या 'सब प्रकार से बर्तता हुआ भी' ('सर्वथा वर्तमानोऽपि') का अर्थ यह लिया जा सकता है कि 'वह अच्छा-

बुरा, पाप-पुण्य, सब कुछ करता हुआ भी भगवान् में बर्तता है ?' इसके उत्तर में कहना होगा कि ऐसा अर्थ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि समाधिवान् भगवत्प्राप्त पुरुष के द्वारा पाप-कर्म हो ही नहीं सकता । श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि जगन्माता ऐसे लोगों के पैर बेताल में नहीं पड़ने देती ।

बीच के ३० वाँ और ३१ वाँ ये दो श्लोक भक्तियोगी की सिद्धावस्था का वर्णन करते हैं । इससे पूर्व ध्यानयोगी की साधना और उसकी सिद्धावस्था का वर्णन हुआ था । अब आगे के श्लोक में परमयोगी का एक चित्र आँक रहे हैं; कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।६/३२।।

अर्जुन (हे अर्जुन) यः (जो) आत्मौपम्येन (अपने समान ही) सर्वत्र (सर्वत्र) समं (सम) पश्यति (देखता है) यदि वा (चाहे) सुखं (सुख हो) वा (अथवा) दुःखं (दुःख हो) सः (वह) योगी (योगी) परमः (परम श्रेष्ठ) मतः (माना गया है) ।

"अर्जुन, जो अपने समान ही सर्वत्र बराबर देखता है—चाहे सुख हो चाहे दुःख, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।"

जैसे हमारी अपने अंगों के प्रति समबुद्धि होती है, वैसे ही यह परमयोगी सबको समान भाव से देखता है । मैं अपने शरीर के अंगों को छोटा-बड़ा नहीं समझता । जैसे मुझे सिर की पीड़ा दुःखी बनाती है और उसके उपचार हेतु मैं तत्पर होता हूँ, वैसे ही पैर की पीड़ा को भी दूर करने के लिए सचेष्ट होता हूँ । मेरे मन में सिर के प्रति श्रेष्ठबुद्धि या पैर के प्रति कनिष्ठबुद्धि नहीं होती । परमयोगी भी सबके प्रति ऐसा ही समानभाव रखता है । उसे दूसरों का सुख-दुःख अपना सुख-दुःख मालूम पड़ता है । यदि काँटा चुभने से मुझे

वेदना होती है, तो दूसरे को भी काँटे की चुभन पीड़ित करती है, अतः जैसे मैं उससे बचने की चेष्टा करता हूँ, वैसे ही दूसरे को भी उससे बचाने की कोशिश करनी चाहिए, यह परमयोगी का भाव होता है।

श्रीरामकृष्णदेव का जीवन इस श्लोक का प्रत्यक्ष निदर्शन है। उनका मन कभी-कभी व्यापक हो जाता था और दूसरों का दुःख उन्हें अपना मालूम होता था। एक बार हरी-हरी दूब पर किसी को बूट पहनकर चलते देख उन्हें लगा कि कोई उनकी ही छाती को रौंदे जा रहा है। उन्हें असह्य पीड़ा का अनुभव हुआ और उनकी छाती लाल हो गयी। एक दूसरे समय उन्होंने देखा कि दो माझियों में लड़ाई हो रही है और एक ने दूसरे की पीठ पर तमाचा जड़ दिया। उन्हें ऐसा लगा कि तमाचा उन्हें लगा है और वे पीड़ा से कराह उठे। देखा गया कि उनकी पीठ पर अँगुलियों के निशान हैं, जैसे उन्हीं को तमाचा मारा गया हो! अब इससे बढ़कर दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने का उदाहरण और क्या हो सकता है?

फिर दूसरी दृष्टि से देखें तो गीता का यह सन्देश एक सर्वथा अभिनव और क्रान्तिकारी समाज-दर्शन हमारे सामने रखता है। दुर्भाग्य यह है कि ऐसे ऊँचे दर्शन के रहते स्वार्थ की प्रबलता के कारण हम अधःपतित हो गये। हमने उसे केवल पोथी में बन्द कर रखा और समाज के क्षेत्र में जाति, सम्प्रदाय आदि पर आधारित भेद-भाव का दर्शन लागू करते हुए अपनी घोर स्वार्थपरता का परिचय दिया। आज भारत को इसी क्रान्तिकारी समाज-दर्शन की आवश्यकता है। 'गीता' की दृष्टि में समाधि में भेद-भाव का अन्त कर स्थित रहनेवाला पुरुष 'योगी' तो हो सकता है, पर

'परमयोगी' वह है, जो समाधि में डूबा हुआ बैठा नहीं है अपितु देश और काल में सर्वत्र व्यवहार करता हुआ, सबके प्रति आत्मबुद्धि के कारण समान भाव रखता हुआ, दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानता हुआ उनके दुःखों के मोचन में तथा उनमें अपने सुख के वितरण में निरन्तर लगा रहता है ।

○

"जब तक तुम सच्चिदानन्द का साक्षात्कार नहीं कर लेते, तुम्हें कुछ मिलना-जाना नहीं । विवेक-विचार और त्याग के समान कुछ नहीं है । संसारी आदमी का ईश्वर के प्रति प्रेम क्षणिक होता है—तपे तवे पर पानी की बूंद के समान । शायद कभी किसी फूल को देखकर कह उठे, 'अहा ! भगवान् की कैसी अचरज-भरी सृष्टि है ।"

"मनुष्य को ईश्वर के लिए व्याकुल होना चाहिए । यदि तुम उनके लिए व्याकुल होगे, तो वे निश्चय ही तुम्हारी प्रार्थना सुनेंगे । जब उन्होंने हमें पैदा किया है, तब हम अवश्य ही उन पर अपने अधिकार का दावा कर सकते हैं । वे हमारे पिता हैं, हमारी अपनी माता हैं । हमें उनसे माँगने का पूरा अधिकार है ।"

—श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द और आधुनिक विज्ञान

डा० राजा रामन्ना

(लेखक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक हैं और हमारे देश के 'परमाणु ऊर्जा आयोग' के अध्यक्ष रहे हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष' के उपलक्ष में रामकृष्ण मठ-मिशन की ओर से दिसम्बर १९८५ के अन्तिम सप्ताह में बेलुड़ मठ में अखिल भारतीय युवा सम्मेलन आयोजित हुआ था, जिसके २८ दिसम्बर के अपराह्न अधिवेशन में लगभग १२,००० श्रोताओं को उपर्युक्त विषय पर सम्बोधित करते हुए उन्होंने बड़ा ही विचारपूर्ण व्याख्यान दिया था। प्रस्तुत लेख उनके उसी मूल अँगरेजी भाषण का अनुवाद है। रूपान्तरकार हैं स्वामी विदेहात्मानन्द।—स०)

अपने बाल्यकाल में मुझे रामकृष्ण मिशन से जो लाभ मिला है, उसे मैं आजीवन भूल नहीं सकूँगा। मुझे वहाँ जो प्रेरणा प्राप्त हुई है, उसका थोड़ा अंश भी यदि मैं इस सम्मे-लन में आये नवयुवकों में संचरित कर सकूँ तो मेरा यहाँ आना सार्थक होगा।

ऐसा हमें प्रायः ही सुनने को मिलता है कि 'वैज्ञानिक मानसिकता' यह शब्द हमें पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने दिया है। परन्तु इस शब्द के पीछे जो विचार है, वह वस्तुतः काफी पहले का है। इसके लिए यदि किसी को साधुवाद देना हो तो वह स्वामी विवेकानन्द को ही देना होगा; क्योंकि उन्होंने सर्वप्रथम सबको बताया कि विज्ञान को परे रखकर मनुष्य कोई विचार ही नहीं कर सकता और विज्ञान दर्शनशास्त्र का ही एक अभिन्न अंग है। पिछली शताब्दी के अन्तिम भाग में सम्पूर्ण भारतवर्ष पर बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय और स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव की बात आप सबको याद होगी। यह सच है कि रवीन्द्रनाथ को सभी सम्मान की दृष्टि से देखते थे, पर उनका साहित्य

इतना सूक्ष्म तथा कवित्व से परिपूर्ण था कि आम जनता उसका आस्वादन नहीं कर सकती थी। अतः बंकिमचन्द्र और विवेकानन्द इन दोनों के प्रभाव से ही भारत में जागरण की सृष्टि हो सकी थी। इन दोनों में जैसे आशा एवं प्रेरणा थी, वैसे ही वीर्यवत्ता भी थी। ये गुण हमारे देशवासियों के मन पर एक स्थायी छाप छोड़ गये हैं। इनके अब भी प्रभावशील होने का प्रमाण है यह सम्मेलन। इस प्रसंग में मुझे लगता है कि कलकत्ते में ही यह सम्मेलन सम्भव हो सका है। गहन-गम्भीर विषयों पर चर्चा सुनने में सामान्य लोगों के मन में एक तरह की अरुचि-सी दीख पड़ती है। मुझे सन्देह है कि देश के किसी अन्य भाग में इस तरह का एक सम्मेलन सफल हो पाता अथवा नहीं।

स्वामीजी ने जैसे वैज्ञानिक मानसिकता पर बल दिया है, वैसे ही आध्यात्मिक विकास पर भी जोर दिया है। अभी हाल ही में हमारे प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने भी कलपक्कम के 'फास्ट ब्रीडर रिएक्टर' (Fast Breeder Reactor) को राष्ट्र की सेवा में सौंपते समय ठीक ऐसी ही बात कही थी। स्वामीजी को दो समस्याओं का सामना करना पड़ा था, जिनमें पहली थी समकालीन देशवासियों के चिन्तन में जड़ता। अपने देशवासियों की भर्त्सना करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"तुम लोगों ने अपने पेट को ही ईश्वर के आसन पर बैठा दिया है और रसोईघर ही तुम्हारी पूजा का मन्दिर हो गया है।" दूसरी समस्या थी—ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू धर्म पर आक्रमण। उन लोगों को हिन्दू धर्म में कोई भी अच्छाई न दीख पड़ती थी और जितने भी प्रकार से सम्भव था उन्हें हिन्दू धर्म के विरुद्ध प्रचार में ही आनन्द मिलता था। इसीलिए स्वामीजी ने खेद व्यक्त

करते हुए कहा था—"हम लोग गरीब हैं, हमें रोटी की आवश्यकता है और तुम लोग हमें रोटी की जगह ईंट-पत्थर देते हो !"

स्वामीजी ने १९०२ ई. में देहत्याग किया, परन्तु तब भी विज्ञान वस्तुवाद से अधिक कुछ भी नहीं जानता था। Theory of Relativity (सापेक्षतावाद) और Quantum Mechanics (क्वांटम मेकैनिक्स) का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था, जिनके कारण वर्तमान काल की विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। परन्तु स्वामीजी तभी समझ गये थे कि इस भौतिकतावाद के आधार पर किसी सर्वांग-सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की रचना नहीं हो सकती।

इतने दिनों के पश्चात् अब हम देख पा रहे हैं कि विश्व-चेतना भी भौतिक विज्ञान का एक अभिन्न अंग है। हाँ, यह बात और है कि पाठ्य-पुस्तकों में चेतना की नहीं वरन् द्रष्टा की बात कही गयी है। परन्तु कोई जब देखना-बोलना आदि करता है, तो वह यह सब चेतना की सहायता से ही करता है। क्वांटम मेकैनिक्स में 'चेतना' शब्द का बड़ा प्रयोग होता है, परन्तु कोई भी इस शब्द का अर्थ विज्ञान-सम्मत पद्धति से समझा नहीं पाता। बड़े मजे की बात तो यह है कि जहाँ सब कुछ गणित की भाषा में कहने की अपेक्षा की जाती है, वहाँ मानो असहाय होकर 'चेतना' नामक एक शब्द का प्रयोग करना पड़ता है, जो कि भौतिक विज्ञान की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता। दर्शनशास्त्र की बात अलग है। दर्शन में चेतना की सत्ता स्वीकार की गयी है, क्योंकि यह हर व्यक्ति की अनुभूति की चीज है। यह आश्चर्य की बात है कि हम चेतना का अस्तित्व तो मानते

हैं, पर इसकी कोई वैज्ञानिक परिभाषा नहीं कर पाते।

भौतिक विज्ञान यह आवश्यक नहीं मानता कि जो घटनाएँ हो रही हैं, उनकी पूर्वावस्था की बात भी बतायी जाय। उदाहरणार्थ, एक परमाणु की आकृति समझने के लिए पूरा Particle Physics (कण भौतिकी) जानने की जरूरत नहीं। उसी प्रकार विश्व-व्यापार को समझने के लिए परमाणु की आकृति समझने की आवश्यकता नहीं। सम्भवतः इसी कारण से दर्शनशास्त्र चेतना का अस्तित्व मानकर ही सन्तुष्ट है; कहाँ से, किस प्रकार, किन रासायनिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप इसका प्रादुर्भाव हुआ, इन प्रश्नों को लेकर वह सिर नहीं खपाता। चेतना की प्रकृति तथा गति के कुछ सुनिश्चित नियम हैं। बरसों पहले वेदान्त के ऋषि, और विशेषकर शंकराचार्य, हमारे मन की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कर गये हैं। इन विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं और यह भी मानना पड़ता है कि अपने-अपने दायरे में वे सारी अनुभूतियाँ सत्य हैं। जाग्रत् अवस्था में हम सभी लोग जगत् का अनुभव करते हैं। अपनी विभिन्न इन्द्रियों की सहायता से हमें इस जड-जगत् का बोध होता है। कोई भी इसके अस्तित्व को नकार नहीं सकता। परन्तु निद्रावस्था में भी हमारा मन निष्क्रिय नहीं रहता। और उस समय हमें जो अनुभूतियाँ होती हैं, उनका बाह्य जगत् के साथ कोई सम्पर्क नहीं भी हो सकता है। फिर जाग्रत् और निद्रावस्था के अतिरिक्त हमारी एक और भी अवस्था है। हाँ, यह जरूर है कि इस अवस्था में जो कुछ होता है, उसका हमें स्पष्ट ज्ञान नहीं है। कुछ काल पूर्व मैंने इन्हीं बातों को विज्ञान की भाषा में कहने का प्रयास किया था और इस पर किसी-

किसी ने मेरी आलोचना करते हुए कहा था कि मैंने विज्ञान के साथ दर्शन को मिला डाला है। मेरा कहना है कि विज्ञान तो दर्शनशास्त्र का ही एक अंग है। दर्शन के अभाव में विज्ञान अर्थहीन है। स्वामी विवेकानन्द ने भी एक अन्य ढंग से यही बात कही है। बहुत से वैज्ञानिक दर्शनशास्त्र को 'सिर खपाना' कहकर उड़ा देना चाहते हैं, परन्तु अनेक विशिष्ट वैज्ञानिक चेतना की व्याख्या ढूँढ़ते हुए विफल हो रहे हैं, जबकि यह मेरे, आपके और हम सबके अनुभव की वस्तु है। विज्ञान का एक नियम यह भी है कि जो चीज सबके अनुभव में आती है, उसकी सत्यता को स्वीकार करना होगा। हाँ, यदि एक व्यक्ति को ही वह अनुभव हो, तो उसे कल्पना कहकर उड़ाया जा सकता है। युक्ति कहती है कि चेतना को जाने बिना भी बाह्य जगत् को समझने में हमें कोई असुविधा नहीं होती, अतः चेतना को लेकर व्यर्थ की माथापच्ची क्यों की जाय? परन्तु मन इसे स्वीकार नहीं करता। किसी-किसी की तो धारणा है कि चेतना मस्तिष्क के भीतर कोई जटिल रासायनिक प्रक्रिया मात्र है और मस्तिष्क भी एक कम्प्यूटर से अधिक कुछ नहीं है। कम्प्यूटर को 'ब्लैक बाक्स' भी कहते हैं। इस ब्लैक बाक्स का कार्य है—जो घटनाएँ हो रही हैं या हो सकती हैं और उनमें से जो-जो युक्तिसिद्ध हैं उनका वर्गीकरण कर देना। परन्तु इनमें से कौन-सी युक्तिसिद्ध हैं और कौन-सी नहीं—इस बात का निर्धारण स्वतन्त्र मनुष्य के द्वारा होता है, न कि किसी यंत्रविशेष के द्वारा। हमें स्मरण रखना होगा कि मस्तिष्क और चेतना दो अलग-अलग चीजें हैं। मस्तिष्क एक प्रकार का कम्प्यूटर हो सकता है, पर चेतना नहीं। यह असम्भव है कि किसी दिन कम्प्यूटर चेतना की भी भूमिका

ले सकेंगे । चेतना के द्वारा व्यक्तित्व में जो परिवर्तन आता है, उसकी व्याख्या गणित, रसायन और भौतिकशास्त्र के द्वारा नहीं हो सकती । अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि मस्तिष्क के व्यापार तथा चेतना की उत्पत्ति के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता । जीव-वैज्ञानिक यदि कहें कि वे जीवन का सारा रहस्य जान चुके हैं, तो इसे अतिशयोक्ति मात्र कहना होगा । मैं पहले ही कह आया हूँ कि वे ज्यादा से ज्यादा इतना ही कह सकते हैं कि इस समस्त वैचित्र्य की उत्पत्ति एक साम्य-अवस्था से हुई । अब तक वे केवल इतना ही समझ पाये हैं । परन्तु मात्र इतना कहने से तो समस्या का समाधान नहीं हुआ । जीव-वैज्ञानिक इस वैचित्र्य का श्रेणी-विभाजन करते हैं, पर इतने से सृष्टि-तत्त्व की व्याख्या नहीं हो जाती ।

इतने दिनों के पश्चात् अब हमारी समझ में आया है कि मूलतत्त्व की खोज करना ही भौतिक विज्ञान का प्रधान कार्य है, और इस तत्त्व की विविध अभिव्यक्तियों की व्याख्या को ही भौतिक विज्ञान के नियमों के रूप में जाना जाता है । इसी दृष्टिकोण से शंकराचार्य के परमब्रह्म को मैं परमसाम्य कहता हूँ, जिससे सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है । इसी साम्य में विक्षेप होने पर हम उसे सृष्टि की संज्ञा देते हैं । कुछ महीनों पूर्व जब मेरी यही सब बातें प्रकाशित हुई थीं, तो कुछ लोगों को यह बड़ा ही अटपटा-सा लगा था । सो हुआ करे, पर मैं तो भौतिक विज्ञान की ही बात कह रहा हूँ । यदि साम्य में हुए विक्षेप को, जिसके फलस्वरूप सृष्टि हुई उस घटना को हम दार्शनिक शब्दावली में 'माया' कहें तो इसमें आपत्ति क्यों ?

स्वामीजी जो कुछ चाहते थे, अब तक मैं उसी ओर

आपका ध्यान आकर्षित करने का प्रयास कर रहा था। स्वामीजी का कहना था कि इस जड़-जगत् को समझने के लिए हमें विज्ञान का सहारा लेना ही होगा। वैसे ही, चेतना को समझने के लिए हमें और भी अनुसन्धान तथा ध्यान की आवश्यकता होगी। इन समस्याओं को हम केवल यह कहकर नहीं टाल सकते कि एक न एक दिन विज्ञान अवश्य ही इनका समाधान कर सकेगा। कहना न होगा कि इस दिशा में विज्ञान के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

○

"दूसरा महान् विचार जो आज संसार हमसे चाहता है, यूरोप का चिन्तनशील मानस चाहता है—वह है समग्र विश्व के आध्यात्मिक एकत्व का सनातन उदात्त भाव। मुझे आज यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि किस प्रकार पश्चिम के आधुनिक अनुसन्धानों ने भौतिक प्रणाली से समग्र जगत् के एकत्व और अविच्छिन्नत्व का प्रदर्शन किया है; कि कैसे भौतिक दृष्टि से आप और हम, सूर्य, चन्द्र और तारे जड़तत्त्व के अनन्त असीम सागर में क्षुद्र ऊर्मियों की भाँति हैं; कि कैसे भारतीय मनोविज्ञान ने इसी प्रकार युगों पहले से प्रमाणित कर रखा है कि देह और मन जड़तत्त्व के समुद्र में—समष्टि में—मात्र नाम या क्षुद्र लहरियाँ हैं; कि कैसे एक सोपान आगे बढ़कर वेदान्त ने यह भी दिखा दिया है कि इस समस्त परिदृश्यमान जगत् के एकत्व के भाव के पीछे वस्तुतः वह एक, अद्वितीय चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है।"

—**स्वामी विवेकानन्द**

माँ के सान्निध्य में (१४)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर, जिला बस्तर के संचालक हैं।--स०)

१६-१०-१९१२, बुधवार, बेलुड़ मठ

मठ में दुर्गापूजा है। आज देवी का बोधन है। माँ आज अपराह्न मठ में आएँगी। सन्ध्या होनेवाली है। माँ के आने में विलम्ब होते देख पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) भाग-दौड़ कर रहे हैं। मठ के प्रवेश-द्वार में मंगलघट और केले के वृक्ष की स्थापना न हुई देख वे बोल उठे, "यह सब अभी हुआ ही नहीं, फिर माँ आएँगी कैसे ?" देवी का बोधन समाप्त होने के साथ ही माँ की गाड़ी मठ में पहुँची। गोलाप-माँ माँ का हाथ पकड़कर उन्हें गाड़ी से उतारने लगीं। उतरते ही सब ओर नजर घुमाकर माँ बोलीं, "सब फिटफाट है, हम लोग मानो माँ-दुर्गा ही सज-धजकर आ गयीं !"

अष्टमी के दिन अनेक लोगों ने माँ को प्रणाम किया-- तीन सौ से अधिक लोग रहे होंगे। उत्तर ओर के मकान में माँ तथा स्त्री-भक्तों के निवास की व्यवस्था की गयी थी। दक्षिण ओर के कमरे में माँ को रखा गया था। चौकी पर पश्चिम की ओर मुख करके माँ पैर झुलाकर बैठीं और भक्तों का प्रणाम ग्रहण किया। तीन-चार लोगों ने मंत्र भी लिया।

शाम को गिरीशबाबू की बहिन न-दीदी की मृत्यु का प्रसंग उठा। बोधन के दिन रात्रि में अचानक देहावसान हुआ था। माँ ने कहा, "देखो न, आदमी अभी है, फिर

अभी नहीं भी हो जाता है । साथ कुछ भी जानेवाला नहीं । केवल धर्म-अधर्म ही साथ जाएगा । पाप-पुण्य मृत्यु के बाद भी साथ लगे रहते हैं ।"

एक लड़के ने सपने में मंत्र पाया था । ठाकुर ने उसे गोद में बिठाकर मंत्र दिया था । उसने माँ से आवश्यक जानकारी ले ली । माँ उस प्रसंग में कहने लगीं, "देखो, बाम्हन के उस लड़के को ठाकुर ने गोद में बिठाकर मंत्र दिया ।"

मैं—तुमने उसे फिर से मंत्र दिया ?

मैं—नहीं. मैं बोली, 'तुम कृपासिद्ध हो । तुम इस मंत्र का जाप करके ही सिद्ध होगे ।' मैं उसका मंत्र भला क्यों सुनने चली ? मैंने उसे जप कैसे करना होता है, यह दिखा दिया ।

विजयादशमी के दिन देवी की प्रतिमा को विसर्जन के लिए नौका में रखा गया । डा० कांजिलाल देवी के सामने तरह तरह के हाव-भाव करते हुए रस की सृष्टि कर रहे थे, जिसे देख बहुत से लोगों का हंसी के मारे बुरा हाल था । एक ब्रह्मचारी जरा मार्जित रुचिवाला था । वह उस हास-परिहास से बड़ा ही खीझ रहा था । मठ के उत्तर ओर के बगीचे में माँ खड़ी हो यह हास्य-कौतुक देख रही थीं और उसका आनन्द ले रही थीं । बाद में मैंने माँ से कहा, "माँ, देवी के सामने वह सब करने के कारण अमुक ब्रह्मचारी कांजिलाल डाक्टर को बहुत कोस रहा था ।" माँ बोलीं, "नहीं, नहीं; वह सब ठीक है । देवी को गा-बजाकर, रंग-रस करके सब तरह से प्रसन्न करना चाहिए ।"

पूजा के कुछ दिन मठ में बिताकर माँ विजयादशमी के दूसरे दिन कलकत्ता लौट आयीं और मात्र कुछ दिन वहाँ रह काशीधाम रवाना हुईं ।

काशीधाम : ५ नवम्बर १९१२, मंगलवार, एकादशी

लगभग एक बजे दिन को माँ काशी अद्वैताश्रम पहुँचीं और कुछ समय वहाँ ठहर किरणबाबू के नये मकान ('लक्ष्मीनिवास') में आ गयीं। मकान एकदम नया था, आश्रम के समीप ही था। बरामदा बड़ा चौड़ा था। देखकर माँ प्रशंसा करती हुई बोलीं, "भाग्यवान् हुए बिना यह सब नहीं होता। तंग जगह में रहने से मन भी तंग हो जाता है, खुली जगह में दिल भी खुल जाता है।"

माँ इस मकान के दुमंजिले में उठते ही जो पहला कमरा पड़ता है उसमें थीं। साथ में थीं गोलाप-माँ, मास्टर महाशय ('म') की पत्नी तथा और भी कई स्त्री-भक्त। नीचे प्रज्ञानन्द स्वामी तथा हम लोग रहते थे।

दूसरे दिन ही माँ पालकी में विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के दर्शनों को गयीं। शनिवार को कालीपूजा के दिन सुबह (दिवाली के दिन) माँ फिर से अद्वैताश्रम आयीं और सेवाश्रम को देखा। पूज्यपाद महाराज (ब्रह्मानन्दजी), हरि महाराज (तुरीयानन्दजी), चारुबाबू, डा० कांजिलाल आदि बहुत से लोग उपस्थित थे। केदारबाबू ने माताजी की पालकी के साथ चलकर उन्हें सब वार्ड दिखाये और हरएक का परिचय दिया। अन्य जो भी देखने का था वह सब देखकर माँ दक्षिण ओर के बरामदे में कुर्सी पर बैठीं और केदारबाबा से बातें करते हुए सेवाश्रम के मकान, बगीचा और उसकी व्यवस्था की बड़ी प्रशंसा करने लगीं। बोलीं, "यहाँ पर ठाकुर स्वयं विराजमान हैं और माँ लक्ष्मी पूर्ण होकर स्थित हैं। अच्छा, यह पहले किस तरह शुरू हुआ? यह भाव पहले किसके दिमाग में आया?" केदारबाबा ने उत्तर में चारुबाबू आदि सज्जनों की निष्ठा और अध्यवसाय

की बात बतलायी और कहा, "मकान बनते समय बूढ़े बाबा खड़े रहकर काम कराते थे।" महाराज (ब्रह्मानन्दजी) ने केदारबाबा के उद्यम, परिश्रम और निष्ठा की बात कही। माँ आनन्दित हो कहने लगीं, "स्थान इतना सुन्दर है कि काशी में रह जाने की इच्छा हो रही है।" माँ के अपने निवासस्थान में लौटकर जाते ही एक भक्त ने आकर अध्यक्ष से कहा, "माताजी के नाम पर यह दस रुपया सेवाश्रम के लिए दानस्वरूप जमा कर लीजिए।"*

१४ दिसम्बर, शुक्रवार को माँ पालकी में कालभैरव, वेणीमाधव, त्रैलंगस्वामी, नागपुर-राजा का मन्दिर, ग्वालियर-राजा का मन्दिर, संकटा, वीरेश्वर और मणिकर्णिका आदि स्थानों के दर्शन हेतु गयीं और शाम तक लौट आयीं। गोलाप-माँ तथा अन्य स्त्री-भक्त गाड़ी में गयी थीं एवं खगेन महाराज पालकी के साथ चलते हुए गये थे। एक दूसरे दिन वैद्यनाथ और तिलभाण्डेश्वर के दर्शन कर माँ ने कहा था, "ये स्वयम्भू लिंग हैं।" बाद में एक दिन सन्ध्या के पूर्व वे केदारनाथ के दर्शन करने गयीं। कुछ समय गंगादर्शन करने के पश्चात् सन्ध्या-आरती के दर्शन किये। बोलीं, "ये केदार और वे केदार (हिमालय वाले) एक हैं—दोनों में योग है। इनका दर्शन करने से ही उनका भी दर्शन करना हो जाता है, ये बड़े जाग्रत् हैं।"

एक दिन माँ सारनाथ देखने गयीं। कुछ साहब (विदेशी) लोग भी देखने गये थे। वे अवाक् हो सारनाथ की प्राचीन कीर्ति देख रहे थे। माँ बोलीं, "जिन लोगों ने किया (अर्थात् यह सारा बनाया), वे ही फिर से आये

* माताजी द्वारा प्रदत्त दस रुपये का यह नोट उनके आशीर्वाद के रूप में अभी भी सेवाश्रम द्वारा सुरक्षित रखा गया है।

हैं और अचरज से देखकर कह रहे हैं— कैसा अद्भुत सब बनाया है !"

सारनाथ से लौटते समय महाराज ने माँ को अपनी गाड़ी में भेजा। पहले तो माँ किसी प्रकार राजी नहीं हुईं, बोलीं, "नहीं, नहीं, उस गाड़ी में राखाल आया है, राखाल वगैरह जाएँगे। मुझे इस गाड़ी में कोई तकलीफ नहीं होगी।" माँ की गाड़ी जब दृष्टि से ओझल हो गयी, तब महाराज जिस गाड़ीमें चढ़े थे उसका घोड़ा बिदक गया और रास्ते के बाजू के खन्दक में गाड़ी समेत उलट गया। महाराज का शरीर कई स्थानों पर छिलकर लहू-लुहान हो गया।

माँ ने यह दुर्घटना सुनकर कहा था, "यह विपत्ति मेरे ही भाग की थी। राखाल ने जोर करके उसे अपने ऊपर ले लिया। ऐसा न होता तो मेरी गाड़ी में तो कच्चे-बच्चे थे (राधू, भूदेव आदि), पता नहीं क्या दुर्घट घट जाता !"

माँ ने एक बार काशी में दो साधुओं के दर्शन किये। गंगातीर में एक नानकपन्थी साधु थे और दूसरे थे चमेली पुरी। जब चमेली पुरी के दर्शन किये, तो गोलाप-माँ ने उनसे पूछा, "कौन खाने देता है ?" इस पर वृद्ध ने अत्यन्त तेजस्विता और विश्वास के साथ कहा था, "एक दुर्गामाई देती है, और कौन देगा ?" उत्तर सुनकर माँ बड़ी प्रसन्न हुई थीं। निवास पर लौटकर सन्ध्या के पश्चात् हमसे कहने लगीं, "अहा, बूढ़े का चेहरा आँखों के सामने झूल रहा है। मानो छोटे से लड़के हों।" दूसरे दिन माँ ने उनके लिए सन्तरे, सन्देश मिठाई और एक कम्बल भिजवा दिया। बाद में एक दिन जब मैंने माँ से अन्यान्य साधुओं को देखने की चर्चा की तो वे बोलीं, "और क्या साधु देखना ? उस दिन तो देखा है। और साधू हैं कहाँ ?"

एक दिन काशी की कुछ महिलाएँ माँ के दर्शन हेतु जब पहुँचीं तो उन्होंने देखा कि वे राधू, भूदेव आदि बच्चों को लेकर बड़ी व्यस्त हैं, फिर वे गोलाप-माँ से अपने फटे वस्त्र को सी देने की बात कह रही हैं। यह देख उन महिलाओं में से एक बोल उठी, "माँ, आप तो माया में घोर फँसी दिखाई देती हैं।" अस्फुट स्वर में माँ बोलीं, "क्या करूँ, बेटी, खुद ही माया हूँ !"

और एक दिन शाम को तीन-चार बजे कुछ महिलाएँ माँ का नाम सुनकर उनके दर्शन करने आयीं। माँ बरामदे में बैठी थीं। गोलाप-माँ तथा अन्य महिलाएँ बाजू में बैठी थीं। आगन्तुकों में से एक ने गोलाप-माँ को ही वयस्का और भव्य आकृतिवाली देख माँ समझ लिया तथा उन्हें प्रणाम कर उनसे बातचीत करने लगी। गोलाप-माँ बात समझकर बोलीं, "वे रहीं माताजी।" माँ का भोला-भाला चेहरा देख उस महिला को लगा कि माताजी कौतुक कर रही हैं। पर जब गोलाप-माँ ने दूसरी बार वही बात कही, तो वह ज्योंही माँ को प्रणाम करने गयी, त्योंही माँ भी हँसकर बोल उठीं, "न, न, वे ही माताजी हैं।" तब वह महिला बड़े पशोपेश में पड़ गयी। गोलाप-माँ एवं माँ बार-म्बार एक-दूसरी को दिखाकर कहने लगीं, "वे रहीं माताजी।" हम लोग यह देखकर हँसने लगे। अन्त में जब वह महिला गोलाप-माँ को ही माताजी समझकर उनकी ओर मुड़ी, तब गोलाप-माँ उसे धमकाती हुई बोलीं, "तुम्हारे क्या दिमाग नहीं है ? देखती नहीं हो, मनुष्य का चेहरा है कि देवता का ? मनुष्य का चेहरा क्या ऐसा होता है ?"

सचमुच ही माँ की सरल-प्रसन्न दृष्टि में ऐसी एक

विशेषता थी, जिससे उनको देखकर अपने आप एक विशेषत्व का बोध होता था।

किरणबाबू का मकान, काशीधाम, प्रातःकाल

मैं—विश्वनाथ को सब लोग छूते हैं, इसलिए रोज सन्ध्या के बाद उनका अभिषेक कर तत्पश्चात् उनकी आरती और भोग होता है।*

माँ—पण्डा लोग पैसे के लालच में उस प्रकार छूने देते हैं। स्पर्श क्यों करने देना? दूर से दर्शन करने से ही तो हुआ। लोगों का सारा पाप आकर लगता है। कितने सब बुरे, दुश्चरित्र लोग आकर उन्हें छूते हैं।

"कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके छूने से सारा शरीर तप जाता है, जलने लगता है। इसीलिए हाथ-पैर धो लेने पड़ते हैं। पर यहाँ (मेरे पास) कलकत्ता की तुलना में लोगों की भीड़ कम है।"

मैं—यहाँ तो (मठ के) महाराज लोगों की अनुमति लेकर आने पर ही तुम्हारे पास दर्शन के लिए लाया जाता है। भीड़ को रोकने के लिए ऐसी व्यवस्था की गयी है।

माँ—हाँ, कौन सात ड्योढ़ी फेरे लगाकर आना चाहेगा?

पगली मामी यहाँ भी माँ को सता रही हैं। उसका उल्लेख कर माँ बोलीं, "लगता है शिवजी के माथे पर काँटा समेत बेल-पत्र चढ़ाया था, इसीलिए मेरे पीछे यह कण्टक है!"

मैं—क्या कहती हो? अनजान में कोई चढ़ा दे तो

* उस समय दिन के समय भोग नहीं लगता था।

दोष कैसा ?

माँ—न, न, शिवपूजा खूब कठिन है । उससे भी बहुत दोष होता है । पर जानते हो, जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसे अपने पूर्वजन्मों के कर्मफलों को भी इसी जन्म में भुगत लेना पड़ता है ।*

"मैंने तो जन्म से लेकर आज तक कोई पाप किया है ऐसा ख्याल नहीं आता । पाँच साल की उमर में उनको (ठाकुर को) छुआ था । मान लिया कि तब मुझमें कोई समझ नहीं थी, पर उन्होंने भी तो छुआ था । फिर मुझे इतना क्यों भुगतना पड़ रहा है ? उनको छूकर दूसरे सब माया से छूट रहे हैं, फिर मेरे लिए ही क्या इतनी माया रह गयी ? मेरा मन तो रात-दिन ऊँचाई में उठकर रहना चाहता है, मैं तो जोर करके उसे नीचे उतारे रखती हूँ—दया के खातिर, इन लोगों के लिए; और मेरे लिए इतना दुर्भोग ?"

मैं—माँ, वे लोग जितना भी तुम्हें परेशान क्यों न करें, तुम सब सहती जाना । मनुष्य होश में रहने पर गुस्सा नहीं करता ।

माँ—ठीक कहते हो, बेटा ! सहनशीलता से बढ़कर कुछ नहीं । पर बात क्या है जानते हो, हाड-मास का शरीर है, डरती हूँ कहीं गुस्से में मुँह से कुछ निकल न जाय ।

माँ अपने आप से कह रही हैं, "जो समय में चेता देता है, वह मित्र है । समय बीतने पर जो आकर 'आह !'

* किसी त्यागी भक्त ने पूछा था, "माँ, हम लोगों के इतनी रोग-राई क्यों लगी रहती है ?" माँ ने उत्तर में कहा था, "तुम लोगों का यही आखिरी जन्म है, इसलिए बाकी सब जन्मों का कर्मफल इसी जन्म में भुगत ले रहे हो ।"

करे, उसका क्या मूल्य ?"

११ दिसम्बर, १९१२

माँ के यहाँ (काशी में) 'काशीखण्ड' (स्कन्दपुराण) का पाठ होता । सन्ध्या पाठ के उपरान्त वार्तालाप चलने लगा ।

मैं––काशी में मरने से क्या सभी की मुक्ति होती है ?

माँ––शास्त्रों में कहा है 'होती है' ।

मैं––तुमने क्या देखा ? ठाकुर ने तो देखा था कि शिव तारकब्रह्म-मंत्र देते हैं ।

माँ––क्या जानूं बाबा, मैंने तो कुछ नहीं देखा ।

मैं––तुम्हारे मँह से न सुनूं तो विश्वास न होगा ।

माँ––ठाकुर से कहूँगी, 'ठाकुर, यह विश्वास करना नहीं चाहता, मुझे कुछ दिखा दो ।'

इसके बाद मैंने मुसलमानों के राज्यकाल में भारत के नाना स्थानों में मन्दिरों के ध्वंस का उल्लेख करके पूछा, "यह जो इतना अत्याचार हुआ तो इसका उन्होंने (ईश्वर ने) क्या किया ?"

माँ––उनका धीरज अनन्त है । यह जो दिनरात उनके सिर पर लोटा-पर-लोटा ढाले जा रहे हैं, उससे भी भला उनका क्या सरोकार ? फिर यदि सूखे कपड़े से ढककर उनकी पूजा करो, तो उससे भी उनका क्या ? उनका धैर्य असीम है ।

दूसरे दिन सुबह खगेन महाराज ने माँ से पूछा, "ठाकुर ने तो काशीधाम में कितना सब दर्शन पाया था, आपने क्या देखा ?" उत्तर में माँ बोलीं, "रात में मैं बिछौने पर लेटी हुई थी, जाग रही थी । अचानक देखती क्या हूँ कि वृन्दावन के सेठ के मन्दिर की नारायण-मूर्ति

बाजू में खड़ी है। मूर्ति के गले में जो फूल का हार था, वह पैरों तक झूल रहा था। ठाकुर को इस मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर खड़े देखा। मैं मन ही मन सोचने लगी, 'ठाकुर यहाँ पर कैसे आ गये ?' फिर उनसे कहा, 'ठाकुर, वह विश्वास नहीं करना चाहता।' ठाकुर बोले, 'विश्वास करेगा कैसे नहीं, सब सत्य जो है !' (अर्थात् काशी में मरने से मुक्ति होती है यह सत्य है)।

"उस नारायण-मूर्ति ने मुझसे दो बातें कहीं। एक तो यह थी—'ईश्वर-तत्त्व को न जानने से क्या किसी को तत्त्वज्ञान हो सकता है ?' और दूसरी बात मुझे स्मरण नहीं आ रही है।"

खगेन महाराज—ठाकुर नारायण-मूर्ति के सामने हाथ जोड़े खड़े क्यों थे ?

माँ—वह तो उनका वैसा ही भाव था—सबके सामने दीनता का।

सुबह पूजा के पश्चात् जब प्रसाद लाने गया, तो पिछले दिन की बात याद आ जाने से पूछा, "बताओ, काशी में मरने से मुक्ति होती है या नहीं, तुमने क्या देखा ?"

माँ—शास्त्रों में है, फिर इतने लोग आते हैं यह विश्वास लेकर कि मुक्ति होती है। जो उनके शरणागत है, उसकी मुक्ति नहीं होगी तो और क्या होगी ?

मैं—जो शरणागत है, उसकी मुक्ति तो होगी ही। पर जो शरणागत नहीं हैं, भक्त नहीं हैं, विधर्मी हैं, उन सबकी मुक्ति होगी या नहीं ?

माँ—उनकी भी होगी। काशी चैतन्यमय स्थान है। यहाँ के सब जीव चैतन्यमय हैं—कीड़े-मकोड़े भी। भक्त-अभक्त, विधर्मी जो भी यहाँ मरेगा—कीट-पतंग तक—

सबकी मुक्ति होगी ।

मैं—सच कहती हो ?

माँ—हाँ, सच ही तो ! नहीं तो फिर स्थान-माहात्म्य क्या होता है ?

प्रसादी मिठाई की गन्ध पाकर मेरे हाथ में एक मक्खी आकर बैठ गयी; उसे दिखाकर मैंने पूछा, "इस मक्खी की भी ?"

माँ—हाँ, मक्खी की भी । यहाँ के सभी जीव चैतन्य-मय हैं । भूदेव दो कबूतर ले जाना चाहता था, सीढ़ी के ऊपर के आले में बच्चे हुए थे । मैंने कहा, 'अरे, न, न; ये काशीवासी हैं, इन्हें ले जाते नहीं ।'

"जाकर बंगालीटोले में देखो, कैसे पूर्वबंग की औरतें सब कुछ छोड़कर यहाँ आकर रह रही हैं । क्या अपने घर-मकान, आत्मीय-स्वजनों के प्रति उनकी माया-ममता नहीं है ? वे लोग काशी में मरने आयी हैं । देखो, उनमें कैसा ज्ञान है ! माया नहीं है ।"

मैं—देखा तुमने पूर्वबंगवालों के ज्ञान को !

माँ—हाँ । उस देश के (माँ के देश के) लोगों में ज्ञान नहीं है । ताजपुरवालों (राधू की ससुराल के लोगों) को देखो—यहाँ पर उनके मकान है, फिर भी काशीवास के नाम पर डरते हैं । सोचते हैं कि वहीं (देश के) घर में रहने से मरेंगे नहीं । अरे, मौत तो साथ साथ लगी ही है ।

मैं—सच कहती हो यहाँ मरने से मुक्ति होती है ?

माँ—(खीझकर) मैं तुम्हारे सामने तीन बार कसम तो नहीं खा सकती । एक बार ही कसम खाना कितना खराब है, फिर तीन बार ! और वह भी काशी में !

मैं—(हँसकर) देखना जिससे काशी में मेरी मृत्यु न हो। नहीं तो मैं कहाँ रहूँगा, तुम्हीं कहाँ रहोगी ? एक दूसरे का देखना ही नहीं होगा !'

माँ—(सहास्य) अरे देखो तो, कहता क्या है—'काशी में मुझे नहीं मरना है !'

मैं—माँ, कहीं थोड़ा-बहुत कुछ प्रत्यक्ष हो तभी तो विश्वास होगा ?

माँ—यदि मनुष्य महापुरुषों की बात स्वीकार नहीं करेगा तो क्या किया जा सकता है ? ऋषि-मुनि जो कह गये हैं, महापुरुष लोग जिस रास्ते से गये हैं, वह छोड़ और उपाय भी भला क्या है ?

मैं—जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा है, उनकी बात नहीं सुनूँगा तो फिर करूँगा क्या ? इसीलिए तो तुमसे पूछ रहा हूँ। जब तक तुम कहोगी नहीं, मैं छोड़नेवाला नहीं।

माँ—तुम विश्वास करो या न करो, उससे उनका (ईश्वर का) क्या ? शुकदेव ज्यादा से ज्यादा बड़े चींटे थे। वे तो अनन्त हैं, उनका भला कितना तुम समझ सकते हो ? एक ठाकुर थे, जिन्होंने देखा था। उन्होंने सब कुछ देखा था, सब जाना था। उनकी बातें वेदवाक्य हैं। उनकी बात पर अगर तुम विश्वास न करो तो फिर क्या करोगे ?

मैं—शास्त्रों में कितनी बातें हैं। एक कहता है यह, दूसरा कहता है वह; अब किसकी बात मानी जाय ? इसीलिए तुम्हें पूछता हूँ।

माँ—सो तो है। पंचांग में बीस इंच पानी गिरने की बात लिखी है, पर उसे निचोड़े तो एक बूँद जल नहीं निकलता। फिर शास्त्रों में बहुत सी बेकार की भी बातें हैं। शास्त्रों का इतना पालन भी नहीं किया जा सकता।

ठाकुर कहते थे, 'वैधी भक्ति कोई भक्ति ही नहीं है।'

"जब वृन्दावन से लौटकर मैं कामारपुकुर में थी, तब इस डर से कि लोग क्या कहेंगे मैंने हाथ से कंगन उतार डाले। मैं सोचती, जहाँ गंगाजी नहीं हैं वहाँ कैसे रहूँगी? गंगास्नान के लिए जाने का विचार मन में आया। मेरे मन में सदैव से गंगाजी के लिए झुकाव रहा है। एक दिन मैंने देखा कि सामने के रास्ते से (भूती की नहर की ओर से) आगे आगे ठाकुर आ रहे हैं, उनके पीछे नरेन, बाबूराम राखाल, बहुत से भक्त—कितने ही लोग आ रहे हैं! देखती क्या हूँ कि ठाकुर के पैरों से जल का फुहारा निकल रहा है और वह लहर मारता हुआ उनके आगे आगे आ रहा है। मुझे लगा—अरे, ये ही तो सब कुछ हैं, इनके पाद-पद्मों से ही तो गंगा निकली है! मैं झटपट रघुवीर मन्दिर के पास के जवाफूल के पेड़ से मुट्ठी मुट्ठी भर फूल तोड़कर गंगाजी में चढ़ाने लगी। उसके बाद ठाकुर ने मुझसे कहा, 'तुम हाथ के कंगन निकालो मत। वैष्णव-तंत्र जानती हो तो?' मैं बोली, 'यह वैष्णव-तंत्र क्या है? मैं तो कुछ नहीं जानती।' वे बोले, 'आज शाम को गौरमणि (गौरी-माँ) आएगी, उससे सुन लेना।' उसी दिन शाम को गौरदासी आयी। उससे सुना—'स्वामी चिन्मय हैं।'*

---

* योगेन-माँ जब कामारपुकुर गयीं, तो माँ ने उनसे इस घटना का वर्णन करके कहा था, "इस पीपल पेड के तने के पास ठाकुर उस समय खडे थे। अन्त में देखा, ठाकुर नरेन की देह में मिल गये।" फिर योगेन-माँ से वे बोलीं, "यहाँ की धूल ग्रहण करो और प्रणाम करो।" जब यह बात स्वामीजी के कानों में पहुँची थी, तब उन्होंने कहा था, "यह बात (अर्थात् स्वामीजी की देह में ठाकुर के प्रवेश करने की बात) मुझे बताना ठीक नहीं हुआ।"

"इस कलिकाल में बस सत्य के प्रति निष्ठा रहने से ही भगवान्-लाभ होता है। ठाकुर कहते थे, 'जिसने सत्य को पकड़ रखा है, वह भगवान् की गोद में सोया हुआ है।' दक्षिणेश्वर में ठाकुर की बीमारी के समय उन्हें रोज जो दूध मैं देती थी, वह अच्छी तरह औंटाकर देती थी और एक सेर दूध रहने पर उन्हें बताती थी आधा सेर—कम करके बताती थी। ठाकुर को एक दिन पता चल गया, बोले, 'यह क्या! सत्य को पकड़े रहना। यह जो ज्यादा दूध पी रहा हूँ, इसी से पेट की बीमारी हुई है।' बस, ज्योंही बात मन में आयी कि उस दिन पेट खराब हो गया।

"उनके लिए तो सब कुछ सम्भव था, हमारे लिए वह सब कहाँ है?"

अन्त में मैं बोला, "माँ, मैं यह सब जो पूछता हूँ और इस प्रकार जो बात करता हूँ, तो मुझे उस सबकी कोई विशेष चिन्ता नहीं है। मेरे मन का भाव अलग प्रकार का है। मैं खुद जानना चाहता हूँ कि तुम्हें जो मैं माँ कहकर पुकारता हूँ, सो तुम मेरी अपनी माँ हो कि नहीं।"

माँ—अपनी माँ नहीं तो क्या? तुम्हारी अपनी ही तो माँ हूँ!

मैं—तुमने तो कहा, पर मैं यह अच्छी तरह से समझ नहीं पा रहा हूँ। जन्म देनेवाली माँ को जैसे मैं अपने आप ही माँ के रूप में जानता हूँ, वैसा तुम्हारे साथ भला कहाँ होता है?

माँ—अहा, हुई न बात!

फिर दूसरे ही क्षण कहने लगीं, "वे ही माँ-बाप हैं, बेटा, वे ही माँ-बाप बने हैं।"

○

तद्विद्धि परिप्रश्नेन

(स्वामी ब्रह्मानन्दजी का अपने एक शिष्य को पत्र)

भद्रक, उड़ीसा
१९१५

प्रिय अ——,

तुम्हारे पत्र से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि प्रभु की कृपा से तुम्हारे मन में कुछ समय साधना में बिताने की इच्छा जगी है और उसके लिए तुमने अनुकूल जगह चुन ली है। इस अवसर का अधिक से अधिक लाभ उठाओ। अपने मूल्यवान् समय को गँवाओ मत। बड़े-बड़े दार्शनिक प्रश्नों में अपने को उलझाने के बदले साधना में समय लगाओ। विश्वास रखो और कड़ी मेहनत करो। बिना सतत अभ्यास के तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा। अब जब कि सभी परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, कम से कम एक साल तक तो साधना में लगे रहो। धीरे-धीरे तुम्हारा तन-मन शुद्ध हो जाएगा और तुम प्रभु की कृपा से बहुत कुछ अनुभव करोगे।

मैं चाहता हूँ कि संसार से सम्बन्धित कुछ भी न करते हुए तथा कोई सांसारिक विचार मन में न उठाते हुए तुम कुछ समय ईश्वर में डूबे रहो। जप और ध्यान का अभ्यास करो तथा ईश्वर की स्मृति सतत बनाये रखो। गपशप में समय जाया न करो, न ही किसी को फालतू उपदेश देने में समय गँवाओ। जब तक तुम्हारा शरीर सुदृढ़ है और मन सांसारिक संस्कारों से अछूता है, तब तक उन्नति का उपाय कर लेना चाहिए। यदि तुम अभी अपने मन को वांछित रूप न दे पाओगे, तो बाद में वैसा करना अत्यन्त कठिन होगा। उठो और लग जाओ। ईश्वर से समूचे हृदय से प्रार्थना करो। वे भीतर से ही तुम्हारे सब प्रश्नों

का उत्तर देंगे। मैं तुम्हारे प्रश्नों का यथासाध्य उत्तर दे रहा हूँ। यदि तुम मेरे बतलाये गये क्रम का कुछ समय के लिए पालन करोगे, तो तुम्हें फल मिलेगा।

प्रश्न—साधक को प्रतिदिन कितना समय जप-ध्यान में बिताना चाहिए और कितना समय पूजा-उपासना और स्वाध्याय (शास्त्र-अध्ययन) में?

उत्तर—जितना समय दे सको, जप-ध्यान, पूजा-उपासना और स्वाध्याय में लगाओ। जो पूरी तरह से अन्तर्मुखी जीवन बिताना चाहते हैं, उन्हें दिन में कम से कम सोलह घण्टे जप-ध्यान में बिताना चाहिए। जैसे-जैसे तुम अभ्यास में सिद्ध होते जाओगे, वैसे-वैसे तुम्हारे लिए जप-ध्यान के लिए और अधिक समय देना सम्भव होगा। ज्यों-ज्यों मन अन्तर्मुखी होगा, त्यों-त्यों तुम्हें अधिक आनन्द मिलेगा। एक बार तुम्हें ध्यान में आनन्द का रस मिला कि फिर उससे विरत होना तुम्हारे लिए कठिन होगा। तब तुम और यह प्रश्न नहीं करोगे कि तुम्हें कितनी देर ध्यान करना चाहिए। तुम्हारा मन ही बता देगा।

जब तक तुम इस अवस्था की प्राप्ति नहीं कर लेते, तब तक दिन का दो-तिहाई भाग जप और ध्यान में लगाने की चेष्टा करो और शेष समय स्वाध्याय और आत्म-निरीक्षण में लगाओ। आँखों को बन्द कर एक घण्टा ध्यान करना पर्याप्त नहीं है। साधक को अपने मन की जाँच करनी चाहिए और उसमें संसार के लिए जो सूक्ष्म लालसा विद्यमान है उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार जब मन शान्त हो जाएगा, तब गहरा ध्यान लग सकेगा। साधना का लक्ष्य ही है मन को शान्त करना। यदि तुम्हारा मन शान्त नहीं है और तुम अपने भीतर

आनन्द का अनुभव नहीं करते हो, तो जानना तुम सही रास्ते पर नहीं हो। मैं तुम्हें एक बात का ख्याल करा दूं—जो व्यक्ति तुम्हारे भोजन की व्यवस्था कर रहा है, वह तुम्हारी साधना के फल का एक अंश पाएगा। अतः तुम्हें कमाई पर्याप्त करनी होगी ताकि दूसरों को देने के बाद भी तुम्हारे लिए कुछ शेष रहे।

प्रश्न—कभी-कभी मन ध्यान का अभ्यास नहीं करना चाहता। ऐसी दशा में क्या करना? क्या स्वाध्याय में लग जाना या फिर मन को जबरदस्ती ध्यान में लगाना?

उत्तर—मन का स्वभाव ही है प्रयास के विरुद्ध भड़कना और हरदम सुख-सुविधा चाहना। अगर तुम कुछ पाना चाहते हो तो तुम्हें कड़ी मेहनत करनी होगी। प्रारम्भिक अवस्था में एक कड़ी आदत बनाने के लिए तुम्हें बलपूर्वक मन को ध्यान में लगाना होगा। यदि बहुत देर तक बैठने में कठिनाई हो तो तुम लेटकर जप का अभ्यास कर सकते हो। यदि तुम्हें नींद आए तो चलते-चलते मंत्र का जप कर सकते हो। ऐसा करते रहने से आदत बनेगी। साधना का क्रम कभी मत छोड़ना। तुम्हें मन के विरुद्ध युद्ध करना होगा। साधना का लक्ष्य है मन को अपने नियंत्रण में लाना।

प्रश्न—क्या प्राणायाम, आसन और हठयोग की नेती-धौती आदि क्रियाएँ आवश्यक हैं?

उत्तर—फिलहाल तुम्हारे लिए यह कुछ भी जरूरी नहीं। भगवान् का नाम जपो, उनसे प्रार्थना करो और उनका स्मरण बनाये रखो। विश्वास करो, प्रभु तुमसे वह सब करा लेंगे, जिससे तुम्हारा भला हो।

प्रश्न—नींद के लिए कितना समय देना चाहिए?

उत्तर—सामान्यत: स्वस्थ शरीरवाले के लिए चार घण्टे की नींद पर्याप्त है । कुछ लोगों को एक या दो घण्टे अधिक नींद की आवश्यकता हो सकती है । पाँच घण्टे से अधिक सोना बीमारी है । बहुत ज्यादा नींद से शरीर को विश्राम नहीं मिलता, उल्टे उससे हानि ही होती है । साधक के लिए नींद में समय खोना उचित नहीं । तुम जवान हो । यही मन को प्रशिक्षित करने का सबसे उपयुक्त समय है । बाद में तुम्हें सोने के लिए पर्याप्त समय मिलेगा ।

जब भी किसी से साधना की बात कही जाती है तो बहुधा वह बहाने बताया करता है । कहता है कि उसका शरीर इतना परिश्रम नहीं सह सकेगा, उसको अधिक विश्राम की आवश्यकता है, आदि आदि । ऐसा निष्ठाहीन व्यक्ति केवल विश्राम और सुविधा चाहता है, करता कुछ नहीं । यदि कोई निष्ठापूर्वक जप और ध्यान का अभ्यास करता है, तो उसकी इन्द्रियाँ और स्नायु लय में गतिशील होते हैं और फलस्वरूप उसके लिए चार घण्टे की नींद पर्याप्त होती है । साधारणतया अधिकांश लोग अनियमित जीवन बिताते हैं । इससे उनका शरीर और मन इतना थक जाता है कि आठ या दस घण्टे की नींद भी उन्हें पूरा विश्राम नहीं दे पाती । अपने जीवन को घड़ी की तरह नियमित बनाने का अभ्यास करो । इससे तुम्हारा तन-मन तरोताजा बना रहेगा । कुछ तो करो ! अगर तुम वह न करो जो तुम्हें बतला रहा हूँ तो प्रश्न पूछकर भला क्या लाभ ?

प्रश्न—भोजन के सम्बन्ध में क्या नियम बनाऊँ ? जो मिले वही खा लूँ या भोजन में विचार करूँ ?

उत्तर—साधनाकाल में आहार के सम्बन्ध में थोड़ा

विचार अच्छा है। कुछ खाद्य पदार्थ ऐसे होते हैं, जो निद्रालस्य बढ़ाते हैं, उनसे बचना चाहिए। अधिक मिठाइयाँ या तीखे अचार आदि खाना भी अच्छा नहीं। इनसे शरीर में तमोगुण बढ़ता है, जिससे आलस्य और नींद का भाव और भी बढ़ता है। तमोगुणी व्यक्ति के द्वारा साधना असम्भव है।

ऐसा भोजन करो, जो सुपाच्य हो। पेट को कभी दो-तिहाई से ज्यादा भोजन से मत भरो। इससे तुम्हारी शक्ति और स्फूर्ति बढ़ेगी। यदि तुम पेट को जरूरत से ज्यादा भरोगे तो तुम्हारी अधिकांश ताकत भोजन को पचाने में खर्च होगी। फिर पेट में वायु बढ़ेगी और इससे तुम बेचैन बने रहोगे। पर यदि तुम्हारा पेट एक-तिहाई खाली रहे तो ऐसा नहीं होगा। साधना में स्वस्थ शरीर बड़ा सहायक होता है।...

मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों के उत्तर दे दिये। अब तुम इन उपदेशों को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करो। जो सज्जन तुम्हें तुम्हारी साधना में मदद दे रहे हैं, उन्हें मेरी शुभकामनाएँ जताना। वे अवश्य सच्चे भगवद्भक्त होंगे।

श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना करना कि तुममें नाम-यश की इच्छा का सर्वथा नाश हो।

प्रभु तुम्हारी सदिच्छा पूरी करें और तुम्हें सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न करें।

तुम्हारा शुभेच्छु,
स्वामी ब्रह्मानन्द

o

विवेकानन्द जयन्ती समारोह–१९८९

--० कार्यक्रम ०--

* रविवार, २९ जनवरी *

स्वामी विवेकानन्द का १२७ वाँ जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रात:वन्दना और ध्यान... प्रात: ५। से ६।। बजे तक
विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती ... प्रात: ७।। से १२ बजे तक
सान्ध्य आरती, प्रार्थना ... सायं ६ से ७ बजे तक

* गुरुवार, १२ फरवरी — प्रात:काल ९ बजे

राष्ट्रीय युवा दिवस

(रविशंकर विश्वविद्यालय परिसर में)

शोभायात्रा, जनसभा एवं

स्वामी विवेकानन्द के प्रति युवाशक्ति की श्रद्धांजलियाँ

* शुक्रवार, १३ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"धर्म और विज्ञान के समन्वय-सेतु स्वामी विवेकानन्द"

* शनिवार, १४ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

* रविवार, १५ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"इस सदन की राय में शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए विश्वविद्यालयीन स्तर पर भी सभी संकायों में हर तीन महीने में परीक्षाएँ ली जायँ और उनमें प्राप्त गुणों के प्रतिशत के आधार पर अन्तिम परिणाम घोषित किये जायँ।"

* सोमवार, १६ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"इस सदन की राय में सत्य की ही जीत होती है, असत्य की नहीं।"

* मंगवलवार, १७ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्र्तविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"स्वामी विवेकानन्द का मुझ पर प्रभाव"

* बुधवार, १८ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्र्तविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

* गुरुवार, १९ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"इस सदन की राय में जीवन की शोभा मात्र विद्या से नहीं, विनय से होती है।"

* शुक्रवार, २० जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यामिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"स्वामी विवेकानन्द का देश प्रेम"

* शनिवार, २१ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्त:प्राथमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

* रविवार, २९ जनवरी सायंकाल ७ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

* ३० जनवरी से २ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : श्री राजेश रामायणी

* ३ फरवरी से १२ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकरजी महाराज

○

श्रीं माँ सारदा देवी का १३६ वाँ जयन्ती महोत्सव

जन्मतिथि पूजा — शुक्रवार, ३० दिसम्बर १९८८

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान ... प्रातः ५। से ६।। बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती ... प्रातः ७।। से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन ... सायं ६ से ७।। बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, १ जनवरी १९८९ — सन्ध्या ५ बजे से

○

श्रीरामकृष्णदेव का १५४ वाँ जयन्ती महोत्सव

जन्मतिथि पूजा — गुरुवार, ९ मार्च १९८९

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान ... प्रातः ५। से ६।। बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती ... प्रातः ७।। से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन ... सायं ६ से ७।। बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, १२ मार्च १९८९ — सन्ध्या ५।। बजे से

○